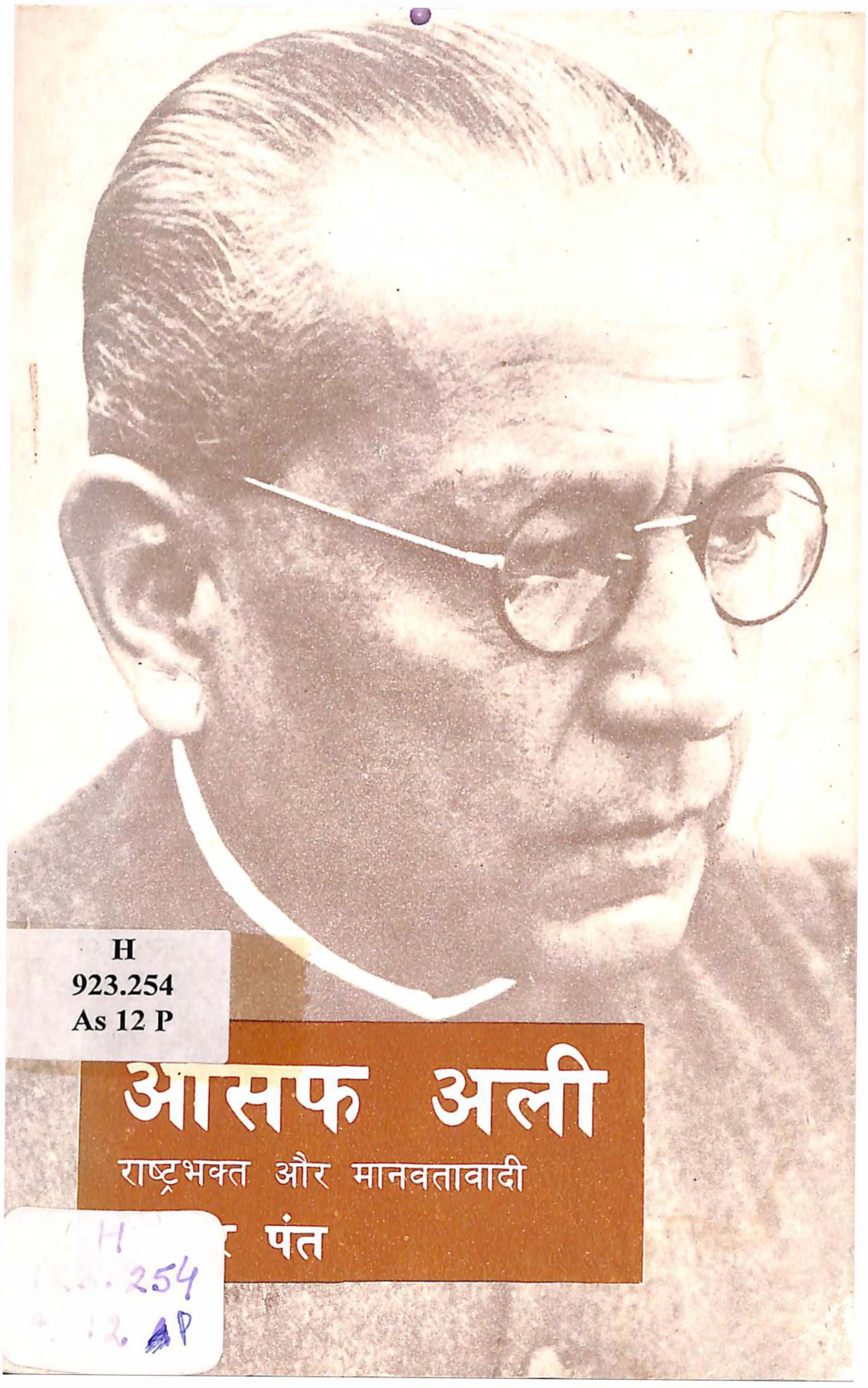

H
923.254
As 12 P

आसफ अली

राष्ट्रभक्त और मानवतावादी

पंत

H
923.254
As 12 P

आसफ अली

राष्ट्रभक्त और मानवतावादी

सुधीर पंत

अनुवादक

रामसेवक श्रीवास्तव

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

Library IIAS, Shimla
H 923.254 As 12 P
00091288

H
923.254
As 12 P

INSTITUTE
A-n. No. 91288
Date 23-2-99

प्रथम संस्करण, 1986 (शक 1908)
चौथी आवृत्ति, 1990 (शक 1912)

मूल © सुधीर पंत, 1984
हिन्दी अनुवाद © नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, 1986

Original title : Asaf Ali *English*
Hindi translation : Asaf Ali

रु. 12.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए- 5, ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली- 110 016द्वारा प्रकाशित।

प्रस्तावना

अपने पति की जीवनी की प्रस्तावना लिखना शायद कुछ अटपटी सी बात है। शुरू में तो मुझे हिचकिचाहट सी हुई लेकिन यह सोच कर कि इससे मुझे कुछ चीजों को लिपिबद्ध करने का अवसर मिलेगा मैंने अपनी स्वीकृति दे दी। मैं इसके लिए नेशनल बुक ट्रस्ट के अध्यक्ष श्री कृष्ण कृपलानी को हार्दिक धन्यवाद भी देती हूं जिनके प्रोत्साहन से मेरे पति के जीवन और कार्यों के इस पहले इतिवृत का प्रकाशन संभव हो सका है।

उनके व्यक्तित्व के अनेक पहलू थे। वह विद्वान, वकील, राष्ट्रवादी लेखक और संगीत तथा कला के पारखी थे। वह हिंदू और इस्लामी संस्कृति तथा भारतीय और पश्चिमी मूल्यों के टकराव और समन्वय की एक अनूठी उपज थे। एक राजनैतिक कैदी के रूप में जेल में भी उन्होंने अपनी साहित्यिक और कुछ हद तक अपनी कानूनी गतिविधियों को जारी रखा।

नजरबंदी शिविर से लिखे अपने एक पत्र में जहां उन्होंने "एसचिलस पर्स" के अनुवाद का संशोधन करते हुए जेल में अकेले होने को स्वीकार किया वहीं उन्होंने यह शिकायत भी की थी: "मेरी परेशानी यह है कि यहां सामग्री नहीं है सिर्फ 'दि पर्सियन्स' की प्रस्तावना लिखने के ही लिए एक पूरा पुस्तकालय चाहिए। इससे संबंधित काल पर जिंदगी भर पढ़ते रहने के बाद भी जब तक किसी नाम का गैर यूनानी ईरानी (दारी) मूल रूप याद करने की कोशिश करता हूं तो बड़ा असहाय महसूस करता हूं।"

एक कट्टर राष्ट्रवादी होने के बावजूद तंगजेहनी उन्हें छू भी नहीं सकी थी। आसफ रवींद्रनाथ टैगोर के बहुत प्रशंसक थे और उन्हीं की तरह वह कुछ भी होने से पहले एक मानवतावादी थे। एक अहंकारी व्यक्ति से लेकर पारिवारिक सांप्रदायिक, जातिवाद और राष्ट्रवादी अहं तक सभी के सभी एक ही राह पर चलते हैं। इनमें से हर एक खुद को या अपने समुदाय को ही ऐसी चुनिंदा जमात मानना जो अमोघ रूप से सही हो — ऐसा नजरिया रखने वाले व्यक्ति में नम्रता स्वभावतः होती ही हैः 'अपने में संयम और संतोष पैदा करो, और बिना दिखावा किए मानवजाति की, जिसका अर्थ है उनकी जो तुम्हारी सीमित पहुंच के अंदर हो, सेवा करो। किसी चीज के लिए बहुत अधिक प्रयत्न करने का अर्थ निराशा को न्यौता देना है। यह ठीक उसी तरह है जैसे जिंदगी में बहुत अधिक पाने की उम्मीद की जाये। इस बात को हमेशा याद रखो कि व्यक्ति मानवता के समुद्र में बहुत नगण्य है

उपरोक्त उद्धरण 1943 के प्रारंभ के दिनों में अहमदनगर किले से मेरे भाई प्रभात गांगुली को लिखे गये आसफ के पत्रों में से लिए गए हैं।

और समूची मानवजाति भी उसी तरह इस अंतहीन सृष्टि में बहुत तुच्छ स्थान रखती है। आंतरिक विनम्रता ही संतोष का मूलमंत्र है। खुद्दारी एक नायाब चीज है। पर इसे गरूर या झूठा घमंड नहीं समझ लेना चाहिए।' अपने पति के बहुत थोड़े से पत्रों और डायरियों को जुटा-सहेज कर मैं रख पायी जिसे मैंने इस जीवनी के लेखक सुधीर पंत के हवाले किया। एक तो यह हमारी राष्ट्रीय खूबी है ही कि हम ऐतिहासिक घटनाओं को क्रमबद्ध रूप में रखने के प्रति उदासीन रहते हैं। इस पर आसफ अक्सर छींटाकशी करते रहते थे; दूसरे मैं राजनीतिक तथा मजदूर यूनियन की सरगर्मी में जिसमें चार वर्षों का अव्यवस्थित और भूमिगत जीवन भी शामिल है, इतनी डूबी रही कि उन इतिहास निर्माताओं के साथ उनके या अपने पत्र व्यवहार और वार्तालापों को न तो तरतीबवार बचाए रख सकी, न ही उन्हें दर्ज कर सकी, जिनके साथ हम जुड़ रहे थे। सुधीर पंत ने आजादी से पहले के तीन दशकों के छिटपुट निजी कागजात और अंग्रेज नजरिए से उस दौर की घटनाओं को अक्स करने वाले दस्तावेजों से उस समय की राजनीतिक घटनाओं की पृष्टभूमि में आसफ साहब की कहानी को नये सिरे से पढ़ने और बयान करने के लिए बड़ी कुशलता से सामग्री का उपयोग किया है।

मैं श्री जी.एन.एस. राघवन का भी इस पांडुलिपि को सावधानी से पढ़ने, सम्पादित करने और मुझसे सलाह-मशविरा भी करके कथा को जहां-तहां और बढ़ाने के लिए धन्यवाद देती हूं। मैं जवाहरलाल नेहरू स्मारक सग्रंहालय और पुस्तकालय से मिलने वाली मदद के लिए भी धन्यवाद देना चाहूंगी, साथ ही अपने पति के साथ काम करने वाले उन बचे हुए लोगों को भी धन्यवाद देना चाहूंगी, जिन्होंने एक महत्त्वपूर्ण वरिष्ठ व्यक्ति के साथ काम करने के अपने संस्मरण सुनाये।

मुझे यकीन है कि यह किताब सिर्फ हमारी पीढ़ी के स्वतंत्रता सेनानियों को अपने बीते दिनों की याद दिलाने के ख्याल से ही दिलचस्प नहीं होगी, बल्कि इसका असर नई पीढ़ी पर भी पड़ेगा। इस समय मेरे दिमाग में खास तौर से वे लोग हैं, जो आजादी के बाद पैदा हुए और बड़े हुए। जिनके लिए गांधी जी, जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आजाद, आसफ अली आदि ने जद्दोजहद की उनकी नजर के सामने आजाद हिंदुस्तान का एक ऐसा सपना था जिसकी नींव सामाजिक और आर्थिक न्याय पर टिकी हो और इस सपने को साकार करना आजादी के बाद की पीढ़ी का काम है।

नयी दिल्ली
30 नवंबर, 1984

अरुणा आसफ अली

अनुक्रमणिका

	प्रस्तावना	v
1.	नगीना तहसील का अली परिवार	1
2.	प्रारंभिक वर्ष	5
3.	यूरोप का अंतराल	10
4.	एक सितारे का उदय	16
5.	खिलाफत	21
6.	विवाह	26
7.	विधायक और एक जिज्ञासु व्यक्ति	29
8.	राजनैतिक धक्का	38
9.	पत्र	42
10.	अंत के वर्ष	47

नगीना तहसील का अली परिवार

1857 की क्रांति पूरी तरह से असफल रही। फिरंगियों के दमन ने नस्लवादी उन्माद का ही रूप ले लिया था। निकोलसन ने कर्नल एडवर्ड को मेरठ के विद्रोह के 15 दिन बाद लिखा, 'हम एक ऐसा विधेयक पेश करें जिसमें दिल्ली की स्त्रियों और बच्चों के हत्यारों को जिंदा जला देने; सूली पर चढ़ाने या उनकी खाल जिंदा उतारने का विधान हो'। दिल्ली पर फतह के बाद जो अंधाधुंध कत्लेआम हुआ उससे यह ख्वाहिश भी पूरी हो गयी। **लंदन टाइम्स** के संवाददाता रसेल ने लिखा था कि विद्रोह करने वालों को जो आत्मिक और मानसिक यातनाएं दी गयीं उन्हें हम यूरोप में देने की जुर्रत भी नहीं कर सकते थे। जब हमारी टुकड़ियां शहर के भीतर घुसीं तो जितने भी आदमी उसके भीतर मिले सभी को, जहां का तहां संगीनें घोंप दी गयीं।

दिल्ली में भगदड़ मच गई थी—बूढ़े और जवान सभी चांदनी चौक की कोतवाली पर लगे फांसी के फंदों से अपनी जान बचाने के लिए शहर छोड़ कर भागे जा रहे थे। राजाओं और जमींदारों ने सत्ता हासिल करने की सशस्त्र और नाटकीय कोशिश की थी और अब जब वे अपनी जान की दुहाई दे रहे थे, उनके साथ किसी तरह की रहमदिली नहीं दिखाई जा रही थी, गालिब ने दुखी होकर कहा: 'जो कुछ भी किसी शासक के दिमाग में आता है, वही उस जगह का कानून बन जाता है।' विशेष रूप से मुसलमान, संभवतः इसलिए क्योंकि वे विद्रोह को भड़काने वाले माने जाते हैं, उन्हें चुन-चुनकर खूंखार किस्म के अंग्रेज सिपाहियों के उत्पीड़न का शिकार बनाया गया। ट्रिवेल्यन ने यह बयान दिया है कि किस तरह 'दिल्ली पर कब्जा होने के बाद काज़ी कहे जाने वाले मजहबी जुनून वाले वर्ग के हर एक सदस्य को मनमाने ढंग से सूली पर चढ़ा दिया गया। अभागे और महज नाम के मुगल सम्राट पर तत्काल मुकदमा चलाकर, उन्हें देश निकाला देकर रंगून भेज दिया गया।

तबाही के इस माहौल में एक नौजवान लड़की, उसकी विधवा मां और कुछ चचेरे-ममेरे भाइयों को घोड़ों और खच्चरों पर अपना सामान लाद कर ले जाते हुए देखा गया। जिस दिल्ली को वे लौट रहे थे वह उनकी सुखद स्मृतियों का शहर नहीं रह गया था। लुटी हुई दौलत और किले की जिंदगी की यादें जहां शाही खानदान से उनके रब्त-जब्त थे। अब उन्हें जो कुछ नजर आ रहा था वह एक भुतहा शहर था जिसे इस तरह लूटा और बर्बाद किया गया था कि इसे पहचानना मुश्किल हो रहा था और जिस पर एक ऐसे दुश्मन का कब्जा था जिसे न तो मध्येशियाई जंगबाजों की तरह मुख्यधारा में खपाया जा सकता था, न ही निकाल बाहर किया जा सकता था। एक समय के जगमगाते बाजारों जैसे उर्दू बाजार, खास बाजार और मोहल्ला बुलाकी बेगम आदि में सामान्य

स्थिति के लौटने के लक्षण नहीं नजर आ रहे थे। जामा मस्जिद की चहारदिवारी से नमाजियों को पुकारने वाली मुअज्जिनों की आवाजें अब सुनने में नहीं आ रही थीं। फतेहपुर मस्जिद, मस्जिद कल्मा और जामा मस्जिद आदि महत्त्वपूर्ण मस्जिदों में फिरंगी फौजें भारी संख्या में डेरा डाले पड़ीं थीं और इसलिए उनमें किसी तरह का मजहबी जोश नहीं दिखाई पड़ रहा था। मजहब परस्तों की बंदगी अब बड़ी समझदारी से उनके घरों तक ही सीमित रह गयी थी।

इस बेसहारा बेवा को अपनी नौ वर्ष की लड़की के लिए खुशकिस्मती से एक अच्छा वर मिल गया। यह थे पश्चिमी संयुक्त प्रदेश (अब उत्तर प्रदेश) में बुलंदशहर जिले के भटवारा के एक जाने-माने पठान परिवार के इर्तिजा खां। वह एक कुशल सधे हुए खुशनवीस थे और मशहूर उस्ताद मीर पुंजाहकाश के शार्गिद थे। इर्तिजा खां खुद संगीत के अच्छे जानकार थे और उन्होंने सितार बजाने में अच्छा नाम कमा लिया था। कौन जाने क्या सोचकर उत्तर प्रदेश की अपनी जमींदारी छोड़कर वह दिल्ली की उन अंधेरी गलियों में आ बसे थे, जहां अभी हाल ही में सिर्फ खंजर और बंदूक की आवाजें ही गूंज रही थी। यद्यपि यह सच है कि उनके पिता अब्दुल्ला खां की फिजूलखर्ची से 80 गांवों की जागीर बहुत छोटी रह गयी थी पर नकद लगानबंदी और दिवानी कानून के चलते गांव के महाजन को ही सबसे अधिक फायदा हुआ था, और मालगुजारी की भारी दर के कारण ही, उन्हें यहां आने पर मजबूर किया होगा.....।

इर्तिजा के भाई मुर्तजा घर छोड़कर अपना कैरियर बनाने के लिए फौज में चले गये और अठाहरवीं बंगाल घुड़सवार दस्ते में 14 वर्ष की उम्र में ही भर्ती हो गये और जल्द ही रिसालदार यानी क़मीशन प्राप्त कनिष्ठ अधिकारी के ओहदे पर पहुंच गये, जो भारतीयों को मिलने वाला सबसे ऊंचा ओहदा था।

चार्ल्स नेपियर हूग रोज और हूम कफ ने अपनी रपटों में युद्ध के मोर्चे पर मुर्तजा के असाधारण शौर्य का उल्लेख किया है। वह विद्रोह के दो वर्ष बाद 1859 में सेवा निवृत्त हुए थे।

इर्तिजा अपनी बालवधू को ऐतिहासिक कूचा चेला के घर में ले आए, जिसे उन्होंने 1858 की नीलामी में खरीदा था, शाहजहां द्वारा शुरू की गई स्थापत्य शैली की यह इमारत वास्तव में मुगल अमीर नजीर इमाम बख्श का एक शिया इमामबाड़ा था। कर्बला की करुण कथा 1857 में इसके कक्ष में नये सिरे से दुहराई जा चुकी थी जबकि खून की प्यासी फिरंगी टुकड़ी ने यहां लगभग 200 लोगों को तलवार के घाट उतार दिया था। उसके बाद इमारत जब्त कर ली गई और नीलाम कर दी गई थी।

इर्तिजा खां ने अपना सारा प्यार, ज्ञान और कलामर्मज्ञता अपनी बेटी अकबरी बेगम पर निछावर कर दिया था। यह लड़की बहुत कुशाग्र बुद्धि थी, संगीत से उसे गहरा प्रेम था। बड़ी तमीजदार और सलीकापसंद थी। उसका रुझान सामाजिक कार्यों की तरफ भी था। खुशनवीसी में उसे आश्चर्यजनक रूप से दक्षता प्राप्त हुई थी और उर्दू जबान की व्याकरण संबंधी अपनी महारत पर उसे नाज था। जैसा कि उसके पुत्र ने सालों बाद इसकी ताईद करते हुए लिखा था, "यह अनुचित भी नहीं था"। उनकी जबान किले के ठेठ जबान-शाही उर्दू थी जिसे उन्होंने किताबों के अलावा जो

जिन उद्धरणों के स्रोत नहीं दिये गये हैं, वे आसफ अली की डायरी से लिये गये हैं।

बहुत काम की नहीं हो सकती थी, अपनी मां तथा किले में ही पले-बढ़े अपने चचेरे-ममेरे भाइयों से सीखी थी। वह निहायत मजहब परस्त और दकियानूस तो थीं लेकिन धर्मान्धता उनमें नहीं थी। वह जिंदगी भर ऐसी ही बनी रहीं। उनकी सगाई आठ साल की उम्र में ही रावलपिंडी के पुलिस वकील (पैरवीकार) के दूसरे पुत्र अहसान अली से हो गई और जब वह तेरह साल की हुई तो उन्हीं से उनका विवाह हो गया। उनका वैवाहिक जीवन कोई बहुत सुखद नहीं था और बहुत जल्द ही वह विधवा भी हो गई।

1857 के बाद कुछ समय तक तो मलाल के कारण मुसलमान अंग्रेजों से कटे-कटे से रहे, पर फिर अधिकतर मुसलमानों ने तय किया कि हुकूमत के प्रति वफादारी बनाये रखना अधिक फायदे की चीज है। अजेय शासकों का कृपापात्र बनने की गरज से जी हजूरी का बजार गर्म होने लगा।

उन्नीसवीं शताब्दी के एक प्रख्यात मुस्लिम समाज सुधारक सर सैयद अहमद खां मुसलमानों को इस बात के लिए उकसा रहे थे कि खुशी-खुशी हुकूमत की खिदमत में लग जाना चाहिए। वह उन्हें याद दिला रहे थे कि 'जिस कृपालु शासन में हम मुसलमान शांति और सुरक्षा से रह रहे हैं, उसकी कृतज्ञता के वे कितने ऋणी हैं।'

उत्तर प्रदेश की नगीना तहसील के गांव नवापुर के मुखिया आसफ के दादा अली ने भी संभवतः कुछ इसी तरह की बात सोचकर सरकारी सेवा शुरू की। पहले जेलर और बाद में सरकारी वकील बने। उन्होंने इस्लाम कबूल करने वाले एक कश्मीरी हिंदू परिवार की लड़की से शादी कर ली। वह खुद अपने को अवध के पहले नवाब वजीर मंसूर अली खां सफदरजंग के खानदान का मानते थे। आसफ अली के ख्याल से यह दावा नकली भी हो सकता था।

पैतृकता की दृष्टि से यह सचमुच एक विलक्षण समन्वय था जिसके बारे में आसफ अली ने लिखा था, "और मैं जो हूं वह ननिहाल की ओर से पठान और मुगल तथा पिता की ओर से सामी-ब्राह्मण खानदानों का एक निहायत अनूठा मिश्रण हूं। और चाहे वे अमीर रहे हों या मामूली हैसियत के, वे जो कुछ भी रहे हों, मुझे इनमें से किसी को लेकर कोई शर्म नहीं है।"

दादा अली के दोनों लड़के मोहसिन अली और अहसान अली बहुत मेधावी थे, लेकिन दोनों ने ही अपनी पढ़ाई बचपन में ही छोड़ दी। ऐसा लगता है कि इसका कारण वह धार्मिक बंदिश थी जिसके कारण बच्चों को कुछ साल तक कुरान रटाया जाता था। यह एक ऐसी पाबंदी थी जिसने इस समुदाय के आत्मविश्वास को और उस नेतृत्व को खत्म कर दिया जो शिक्षित युवक इसे दे सकते थे। पंजाब विश्वविद्यालय परीक्षार्थियों की दसवीं की परीक्षा में टाप करने के बाद भी मोहसिन अली को कालेज में दाखिल नहीं कराया गया।

दोनों भाइयों ने उस नए शासनतंत्र में जाने का निर्णय कर लिया जो अब मजबूती से इस सत्ता पर जमा हुआ था। यद्यपि बहुत कम मात्रा में ही सही मगर जिसमें हुक्म चलाने का रोमांचक आकर्षण था। 1861 में पुलिस महकमे की नींव रखी गयी थी। ये दोनों भाई इसी में भर्ती हो गए। मोहसिन अली 17 वर्ष की उम्र में। अहसान अली उसके बाद नमक और लोक निर्माण विभाग में। दोनों ने खास तरक्की की। कुछ अरसा रहने के बाद 25 वर्ष के होने के पहले दोनों क्रमशः शिमला और अम्बाला के केन्द्रीय पुलिस थाने के दरोगा हो गए। नौकरी में इस छलांग के बावजूद दोनों भाई महसूस करते रहे कि वे इससे अच्छे और ऊंचे पद के हकदार हैं। मोहसिन ने इंग्लैंड जाकर बैरिस्टर

बनने का निश्चय किया, लेकिन अपने मंसूबे को असली रूप देने से पहले ही उन्नतीसवें जन्मदिन के कुछ महीने बाद ही वह घोड़े पर से गिर गए और शिमला में उनकी मृत्यु हो गयी।

17 वर्ष की आयु में अहसान अली का निकाह इर्तिजा खां की उस खूबसूरत लड़की से हुआ, जिससे उनकी सगाई वर्षों पहले हुई थी। विवाह के समय यह लड़की अपनी किशोरावस्था के प्रथम चरण में थी। वह एक ऊंचे खानदान की लड़की थी और उसके अनुसार उसके चाचा रिसालेदार थे। पिताजी कलात्मक रुझान के थे और मां मुगल खानदान की थी। यद्यपि वह अभी पूर्ण रूप से सयानी नहीं हुई थी, लेकिन घरेलू कामकाज में खासी निपुण थी और खाना बनाने की कला में तो माहिर। अपनी मर्यादा के अनुसार ही वह अपने साथ अच्छा खासा दहेज लेकर आई थी और अब अपने थानेदार पति अहसान अली के व्यंजन-प्रेम तथा संतान कीआकांक्षा को तुष्ट करने पर जुट गई थी। शीघ्र ही दो संतान उन्हें हुई—पहला एक लड़का जो अविकसित पैदा हुआ था और दूसरी एक लड़की जो पैदा होने के बाद ही मर गई। अगस्त 1887 में वह फिर से तीसरी बार गर्भवती हुई।

अहसान अली की खुशी का प्याला उस समय लबालब भर गया जब 1888 के मई माह के ग्यारहवें दिन रहीम अल्लाह ने उन्हें एक बेटा दिया। लड़के का नाम मुहम्मद आसफ अली रखा गया।

दिल्ली में अपनी पत्नी की गर्भावस्था के महीनों में अहसान अली ने अपनी आंखें एक ऐसी अंग्रेज या एंग्लोइंडियन लड़की पर टिका दीं जिससे उनकी मुलाकात तब हुई थीं, जब वह रावलपिंडी में तैनात थे। उन्होंने बड़ी चतुराई से इस प्रेम संबंध को विवाह का जामा पहना दिया। इस गुपचुप शादी की खबर इर्तिजा की लड़की को लगी जो अब गर्भवती थी। उसने कसम खा ली कि अब वह उस घर में लौटेगी ही नहीं जिसमें उसकी सुहाग की सेज दूषित कर दी गई है। आसफ अली के जन्म के 18 महीने बाद अहसान अली को डबल न्यूमोनिया हो गया। उन्हें अपनी पत्नी के पास ले जाया गया जिसकी बाँहों में उनकी मृत्यु हो गयी। युवा विधवा दिल्ली लौट आई और पिता के घर में अपने बेटे का पालन करने के लिए रहने लगी।

प्रारंभिक वर्ष

पिता के साये से वंचित आसफ ने दुनिया को एक बच्चे की नजर से देखना शुरू किया। वह जिज्ञासु तो था, ही घर के नौकर-चाकर और रहमदिल औरतें उसे बेहद प्यार करती थीं और इस नन्हें बच्चे के तौर-तरीके और पोशाक को लेकर मर खपाती रहतीं। छोटी उम्र में ही उन्होंने उसे बहुत सलीकेदार बना दिया था। पोशाक और तौर-तरीके की यह झक तो आसफ में सारी उम्र बनी रही। आसफ का बचपन एक ऐसा गौरवमय संसार था जिसमें उनको अपना घर और किसी भी जगह से अधिक शानदार लगता था। वह बड़ी आकर्षक सरलता से लिखते हैं कि, "यह एक ऐसी दुनिया थी जो औरतों से भरपूर थी। औरतें जो दुनिया के किसी भी विषय पर बड़े आधिकारिक ढंग से चर्चा कर सकती थीं; और अपने और अपने मित्र परिवारों को छोड़कर हर परिवार में कोई न कोई नुक्स निकाल लेती थीं। हर एक के व्यवहार, पोशाक, गहने, जबान और चरित्र की नुक्ताचीनी करते हुए उसे माकूल या नामाकूल करार दिया जाता था। फेरीवालियां सुबह, दोपहर और शाम आती रहती थीं और अपने विभिन्न सौदों, जैसे मिठाई, फल और फूलों के साथ-साथ खबरें और अफवाहें भी बांटती जाती थीं।" आठ वर्ष तक की जिंदगी इसी प्रकार की रही। इसके बाद घर पर ही कुरान, उर्दू पढ़ाने के लिये हाफिज नवाब मिर्जा और अंग्रेजी पढ़ाने के लिए विशम्भर नाथ को रखा गया जो आसफ को अंग्रेजी के ककहरे से, जिसकी शिक्षा उन्हें बाप्तिस्त मिशन की मिस स्मिथ से मिली थी, कुछ आगे की भी जानकारी हासिल करने के लिए उकसाते रहते थे। इन प्रारंभिक प्रभावों में आसफ अपनी मां और नानी का उल्लेख करते हैं। इन दोनों का ही गला बहुत सुरीला था और इन्होंने ही आसफ के मन में हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के प्रति प्रेम जगाया।

उनकी मां के रिश्ते के किसी भाई ने आसफ को स्कूल में डालने की सलाह दी। जिस अंग्रेजी-अरबी स्कूल में उन्हें भर्ती कराया गया उसके पाठ्यक्रम में, जैसा कि अपेक्षित था, पारंपरिक ढंग के इस्लामी पाठ्य विषय तो थे ही साथ ही पश्चिमी शिक्षा का भी समावेश किया गया था। इस तरह इसमें अरबी मदरसों की सख्त पाबंदियां और अंग्रेजी स्कूलों के अपेक्षाकृत सहिष्णु उदारवादिता का बहुत सुंदर संगम हुआ था। इससे आसफ के दिमाग की खिड़कियों को विशाल जगत के प्रति खोलने में और बाद के जीवन में अपनी जाति के अनेक सदस्यों की धार्मिक कट्टरता और कठमुल्लेपन का प्रतिरोध करने में भी मदद मिली। वह कानों में बाली और नफीस ढंग का काढ़ा लखनवी कुरता पहनकर अपनी नानी के एक वफादार नौकर के साथ स्कूल पढ़ने के लिए

जाते थे। वह लगभग एक जनानी सी ऐंठ थी पर उस समय के अमीर मुसलमान घरानों के लड़कों के लिए आम बात थी। उर्दू पढ़ते समय उनमें कविता के प्रति एक गहरी रुझान पैदा हुई जिसे उन्होंने पूरी उम्र कायम रखा। दिल्ली में गालिब और ज़ौक के होने के कारण उन्नीसवीं शताब्दी में इस शहर का सांस्कृतिक वर्चस्व भी स्थापित हो गया था।

इस दुबले-पतले, पीले, खूबसूरत लड़के की किशोरावस्था बड़ी बेफिक्री की थी। रेशम के कोये की भांति उन्हें अभी भी अपनी शर्म के कुंजलक से बाहर आना था और वह दोस्तों और अपने आसपास के वातावरण के बीच बहुत प्रसन्न थे। उन दिनों दुर्भिक्ष और प्लेग बुरी तरह फैला हुआ था।

लेकिन सूखे की खबर से अपने दिमाग का बोझ बढ़ाने की जगह मन को शौर्य की उन कहानियों में रमाए रखना अधिक खुशगवार मालूम होता था जो उनकी नानी अपने पुरखों के बारे में सुनाया करती थीं।

1903 में पहली जनवरी को राजा एडवर्ड सातवें के राज्यभिषेक के अवसर पर नया शगल सामने आया, जब सड़कों पर शांत ढंग से चल रहे हाथियों का जुलूस और सोने चांदी के झूमते हौदों को देखकर आंखें चौंधिया सी गयीं। स्कूल जाते समय किसी सुबह संभवतः उन्होंने जालीदार बालकनियों से आती घुंघरुओं की छनकती आवाज और झांकती तवायफों को पान से रंगे होठों से खिलखिलाते तथा बातचीत करते देखा होगा। इसका असर उन पर यहां तक पड़ा कि आसफ के बड़े हो जाने पर भी कत्थक के बोल उनके कानों में गूंजते रहते थे और मुजरा उनके लिए मनोरंजन का एक प्रिय साधन बना रहा। कम से कम वर्षों बाद पश्चिमी शास्त्रीय संगीत के आनंद से परिचय होने तक तो निश्चित रूप से ही।

आसफ का कद कुछ-कुछ दबा हुआ सा ही था पर उन्हें कसरत और रियाज का बड़ा शौक था और व्यायाम तथा जुझारू ढंग की किसी भी चीज में अपने से बड़े लड़कों को भी मात दे देते थे। जैसा कि वह लिखते हैं कि वह, ''हवाई बंदूक से अच्छा निशाना लगा लेते थे।'' और घर एक छोटा-मोटा अस्त्रागार ही बन गया था जिसमें एक शाटगन, एक तमंचा, मृत पिता और चाचा के दो रिवाल्वर, सरदार अब्दुल्ला खां की तलवार जो एक खानदानी निशानी थी, दो उम्दा तलवारें, कई सारे पेशकब्जे (पठानों की खुखरी) और भयानक दिखने वाला एक पठानी छुरा। इस तराजू के दूसरे पलड़े पर एक अबूझ जिज्ञासा थी। पांच वर्ष की उम्र में ही काले चौकोर पत्थर में जड़ी एक मेज घड़ी का पुर्जा-पुर्जा उसने यह जानने के लिए खोल डाला था कि यह चलती कैसे है—और बेशक वह पुर्जों को फिर जोड़ने में सफल नहीं हुआ था पर इससे उसकी जिज्ञासा का पता तो चलता ही है। हर चीज को जानने की इसी लालसा के चलते उसने एक तोते की मौत के बाद यह पता लगाने के लिए कि उसकी भीतरी बनावट कैसी है, उसकी चीर फाड़ कर डाली थी।

युवा आसफ को पुराने लेखकों की अलंकारमय और तुकांत बोझिल शैली से चिढ़-सी थी। वह और उनके नए स्कूली दोस्त रऊफ अली अब्दुल हलीम शरर के रोमानी भावोद्गारों पर टीका टिप्पणी करते रहते थे। नतीजा यह कि बारह से सोलह के बीच का दौर 'खासी उलझन और शक्ति के अपव्यय' का दौर रहा। कभी तो वह जी जान से काम पर जुट जाते कभी, लंबे अरसे के लिए उदासीनता और सुस्ती का दौर आ जाता और इस बीच वह अपने दोस्तों को अपनी 'प्रखर मेधा के

कमालों' से चकित करके ही अपना संतोष कर लेते थे। पर सुकूनी का दौर हमेशा के लिए कायम नहीं रह सकता था। स्कूल छोड़कर कालेज मे दाखिल होने की बेचैनी भरी प्रक्रिया भी इसके साथ लगी थी। स्थानीय प्रबंधकों ने अलीगढ़ कालेज में आसफ और उनके मित्र रऊफ को वजीफा देने का वायदा किया था पर उसकी जगह उन्होंने सेंट स्टीफन कालेज में दाखिला लेना अधिक बेहतर समझा। ये वर्ष उनके लिए बहुत सार्थक सिद्ध हुए थे। ये परिपक्वता और आत्मान्वेषण के वर्ष थे और पहली बार आसफ ने राजनीतिक घटनाओं की सुगबुगाहट को महसूस किया। जब वह स्कूल के अंतिम वर्ष में थे उस समय हुए बंग-भंग ने उनमें विदेशी हुकूमत की निरंकुशता के प्रति एक जागरूकता पैदा की। जाहिर तौर पर तो यह कहा जा रहा था कि इस अतिशय बड़े प्रांत को इसलिए बांटा जा रहा है कि प्रशासन में सुधार लाया जा सके पर इसका असल मकसद था पूर्वी बंगाल मुस्लिम बहुल जिलों को बाकी हिस्से से निकालकर राष्ट्रीयता के ज्वार में गतिरोध पैदा करना। इस बंटवारे से जागरूकता का एक स्तर कायम हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रवादिता की अभिव्यक्ति पहले से भी अधिक उग्र रूप में होने लगी। नरमपंथियों और क्रांतिकारियों ने सरकार को अपना निर्णय वापस लेने के लिए जोर डाला। इसके लिए जो तरीके अपनाए गए उनमें विदेशी सामान का आर्थिक बहिष्कार, स्वदेशी आंदोलन, जिसमें महिलाओं ने भी पहली बार सक्रिय भाग लिया; और अंग्रेज अफसरों पर हथियारों से हमले आदि थे। पर 'बंग-भंग' आंदोलन प्रधानतः हिंदू आंदोलन ही था। 1911 में हुए बंटवारे को रद्द कर दिया गया। इससे बहुत से मुसलमानों को कुछ झटका सा लगा। 10 जनवरी 1912 के अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजट में नवाब विकरुल मुल्क का अनुवादित लेख उद्धृत किया गयाः "कांग्रेस का स्वराज्य मुसलमानों के लिए घातक है। अंग्रेजी हुकूमत का लोप या भारत में इसके प्रभाव का ह्रास भी हमारे लिए बड़ी आफत होगी।" यहां सर सैयद अहमद खां की मान्यता को ही फिर से दुहराया जा रहा था।

मुस्लिम लीग अंग्रेजी सरकार की प्रेरणा से 1906 में ही बन गयी थी, पर इसके गुमराज करने वाले राजनीतिक सिद्धांत को सामने रखे बगैर युवा स्नातक के रूप में आसफ इन मामलों पर अध्ययन करते रहते और अपने दोस्तों के बीच में चर्चा करते रहते थे। उन प्रारंभिक दिनों की याद करते हुए वह लिखते हैंः "एक विदेशी हुकूमत का मतलब जहन में उतरता जा रहा था। हम लोग लाचार थे। विदेशियों ने हमें दबोच रखा था और वे किसी न किसी प्रकार से हमें, हमारी ही आंखों में ओछा बनाते जा रहे थे और इसीलिए एक नेता की जरूरत थी। परिणामस्वरूप बहिष्कार और बंगाल आंदोलन हुआ।"

संभवतः यही वह समय है, जब उन्होंने पहली बार सुविधा वंचित लोगों की तरफ से लड़ने का बीड़ा उठा लिया; और अनुभवों ने उन्हें इस बात के लिए सचेत किया कि वकील न होते हुए भी वह कितने प्रभावशाली ढंग से वकीलों जैसी वकालत कर लेते हैं।

आज की ही भांति उस समय भी बड़ी संख्या में भारत का पुलिस बल रिश्वत खोर और भ्रष्टाचारी था। म्युनिसिपिल क्षेत्र से किले के क्षेत्र में पहुंचने पर ठेले वालों और पैदल यात्रियों को पुलिस वाले किस तरह परेशान करते थे इसे आसफ कालेज जाते समय अक्सर देखते थे और खीझ अनुभव करते थे। एक दिन संयोग से उन्होंने दो युवा ठेलेवालों को घेर कर खड़े आदमियों को देखा। उन्हें दो पुलिस वाले इसलिए हथकड़ी डाल रहे थे क्योंकि उन्होंने रिश्वत देने से इंकार कर

दिया था। आसफ को तैश आ गया। उनके कथनानुसार यह उनकी ऐसी प्रवृत्ति थी जिस पर काबू पाना कठिन होता था, और इसने "विधानसभा में उनके कुछ भाषणों का मजा भी किरकिरा कर दिया था।" उस खास मौके के विषय में वह लिखते हैं कि "मैं अपने पर अधिक देर तक काबू नहीं रख सका और पुलिस वालों को, जो उसी इलाके में रहने के कारण मुझे व्यक्तिगत रूप से जानते थे, फटकारने लगा। उन्होंने जवाब दिया कि मुझे इसमें टांग अड़ाने की जरूरत नहीं और मुझे अपना रास्ता देखना चाहिए। लेकिन मैं न्याय दिलाने के लिए बंदी व्यक्तियों के साथ थाने गया। थाने पर मैंने जो कुछ देखा था, उसे थानेदार से बयान कर दिया। वह बहुत भला और नम्र लगा और मुझसे कहा कि सब कुछ ठीक हो जायेगा और मुझे अंत तक रुकने की जरूरत नहीं है। कालेज से लौटने के बाद मैंने दोनों अपराधियों को मुझे यह बताने के लिए इंतजार करते हुए पाया कि पुलिस ने उन पर झूठा अभियोग ही नहीं लगाया है, वरन् मुझे भी सबक सिखाने के लिए वह आपस में बातें कर रहे थे। और अपनी कानून की किताब में मुझे फंसाने की तरकीब भी ढूंढ रहे थे। एक सरकारी कर्मचारी को उसके कार्य में हस्तक्षेप करने के लिए मेरे पास दो तीन दिन बाद उस इलाके के मजिस्ट्रेट के सम्मुख उपस्थित होने का एक सम्मन आया। नियत दिन मैं अदालत में उपस्थित हुआ और पाया कि अदालत का इंस्पेक्टर कांइयापन से कह रहा है कि एक सरकारी कर्मचारी के कर्तव्य पालन में हस्तक्षेप करके मैंने गलत किया है। इसीबीच मजिस्ट्रेट, जो एक युवा अंग्रेज लेफ्टिनेंट था, भीतर घुसा।केस मजिस्ट्रेट के सम्मुख पेश किया जाता और मुझको बुलाया जाता इससे पहले ही मैं चुपचाप अदालत के कमरे में चला गया। अपने को मजिस्ट्रेट के सामने सेंट स्टीफन कालेज का छात्र बताते हुए मैंने अपना परिचय दिया और ठेलेवालों के गिरफ़ार होने की कहानी और पुलिस वालों को मैंने जो झिड़की दी थी उसे बयान कर दिया। उसने मामले को देखा और कहा, "लेकिन यह लोग इसलिए गिरफ़ार किये गये हैं कि वे सड़क पर झगड़ा कर रहे थे।" मैंने उसे आश्वस्त करते हुए कहा कि यह गढ़ी हुई कहानी है और झूठ है। उस अवसर पर इस नये अभियोग के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा गया था। मजिस्ट्रेट मेरी गवाही और मेरे तर्कों से संतुष्ट हो गया। बाद में मैंने सुना कि उसने हर पुलिस वाले को पांच रुपया जुर्माना किया और उन तथाकथित अपराधियों को दिलवाया।"

उस समय कालेज के नौजवानों की सबसे बड़ी आकांक्षा यह होती थी कि वे भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा पास कर लें, इसके लिए सेंट स्टीफ़न सबसे उपयुक्त जगह थी। प्रोफेसरों और लेक्चरर महापुरुषों की मंडली में जाने पहचाने नाम थे जैसे —"चार्ल्स ऐनड्रूज़, प्रोफेसर वेस्टर्न, प्रधानाचार्य रुद्रा, प्रोफेसर घोष और मौलवी शाहजहां।" साथ के पढ़ने वालों में "हरदयाल (प्रसिद्ध क्रांतिकारी और एक दुराग्राही मेधावी) जिन्होंने हाल में डबल एम.ए. के बाद वैलियल आक्सफोर्ड में दाखिला लिया था" और "हैदर रिजा" एक अन्य जिद्दी मेधावी, जिनका वाकचातुर्य दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देता था, और जिन्होंने आंदोलनकारी के रूप में प्रसिद्धि पा ली थी।

लेकिन कालेज का एक साल आई.सी.एस. से आसफ का दिमाग पलटने के लिए काफ़ी था। बंगाल के बंटवारे के बारे में एक "अंग्रेज विरोधी भावना बढ़ रही थी" सी.एफ. एनड्रूज जैसे हमारे प्रोफेसरों के स्पष्ट राष्ट्रवादी लेक्चररों से प्रेरणा पाकर उनके अपने राष्ट्रवादी विचारों को खुराक मिल रही थी।

डा० राजेंद्र प्रसाद के साथ

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के साथ

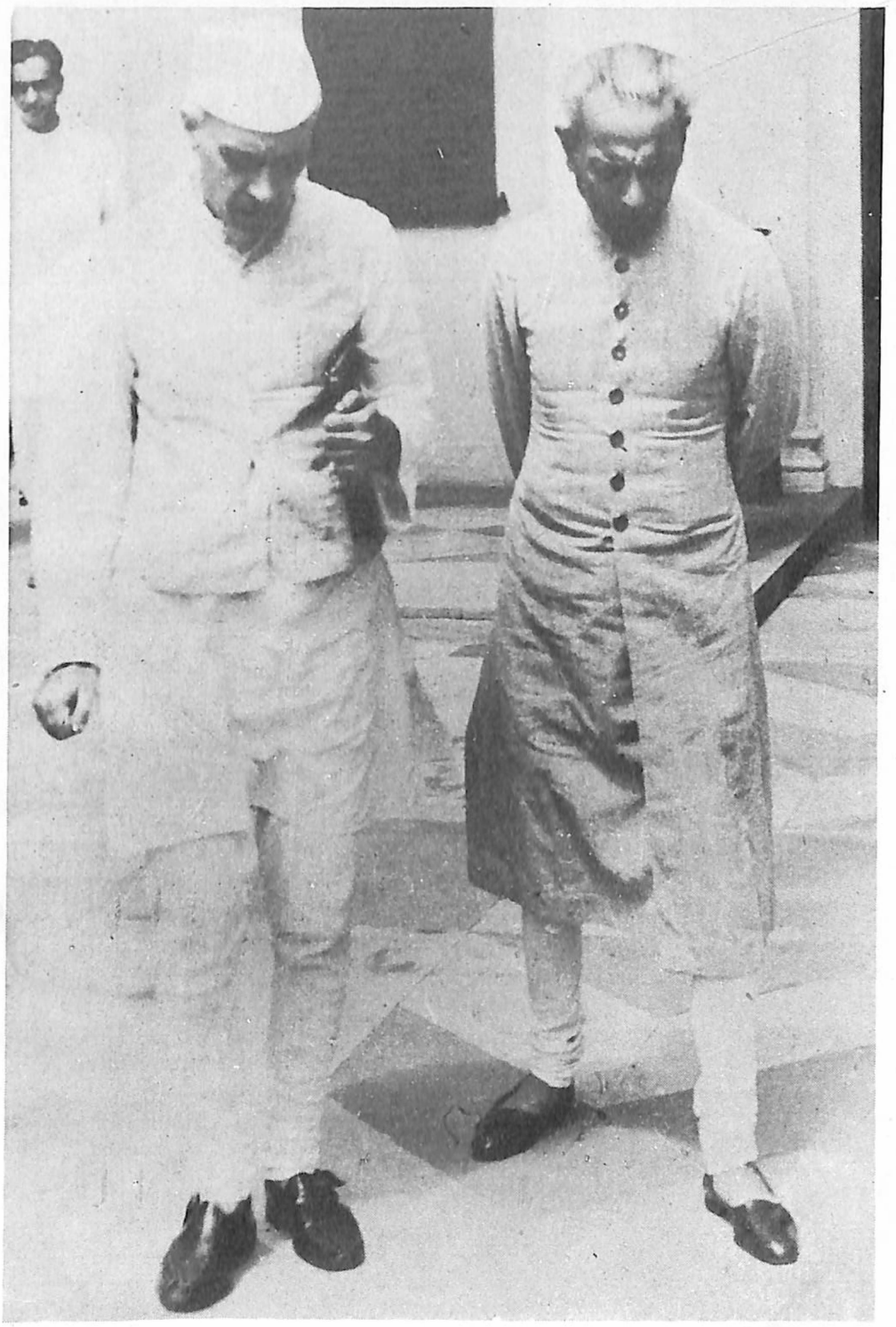

जवाहरलाल नेहरू के साथ

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी का स्वागत करते हुए

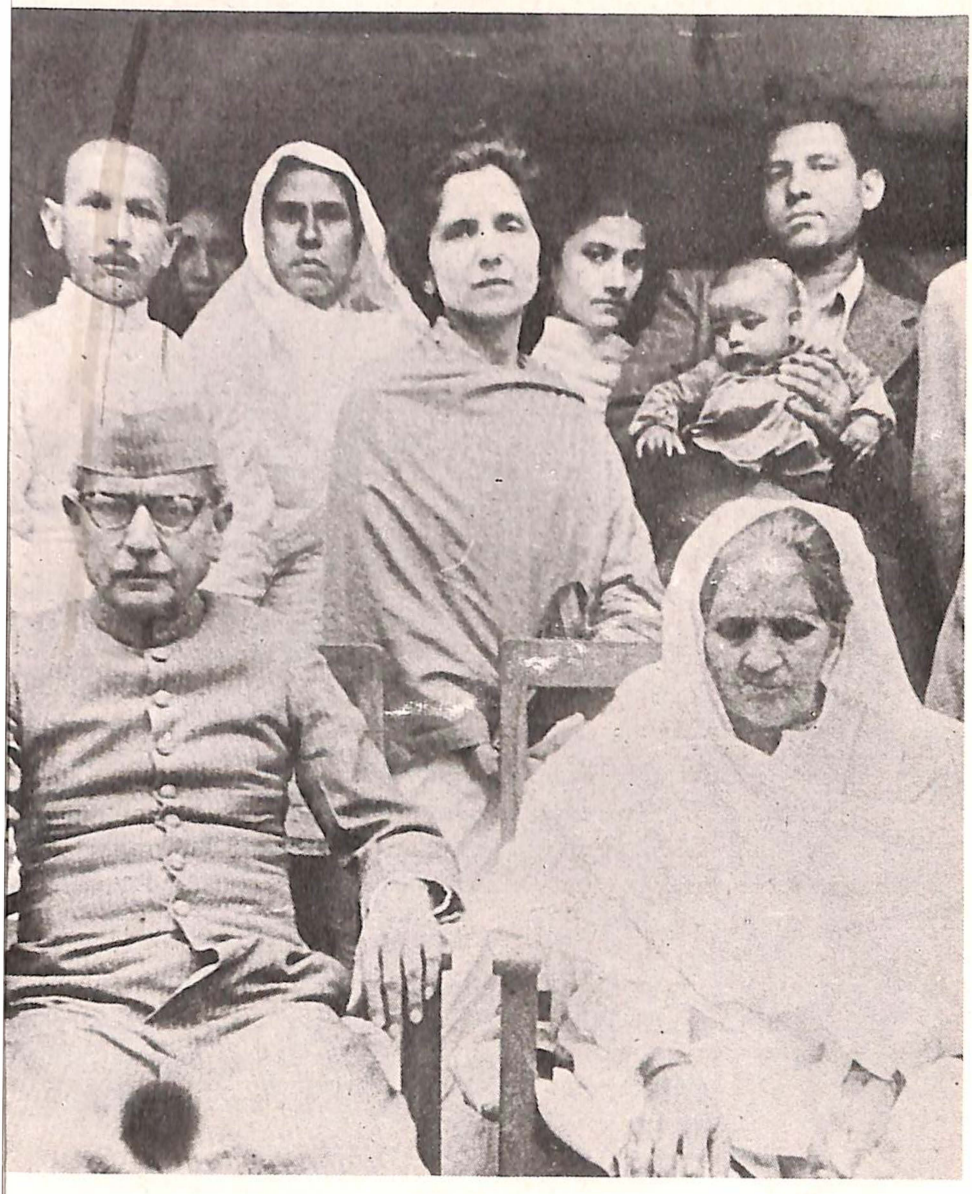

बहन, अरुणा तथा परिवार के अन्य सदस्यों के साथ

बैरिस्टर-एट-लॉ के रूप में

अरुणा के साथ कटक में नौका-विहार करते हुए

पुरी में रथ यात्रा देखते हुए

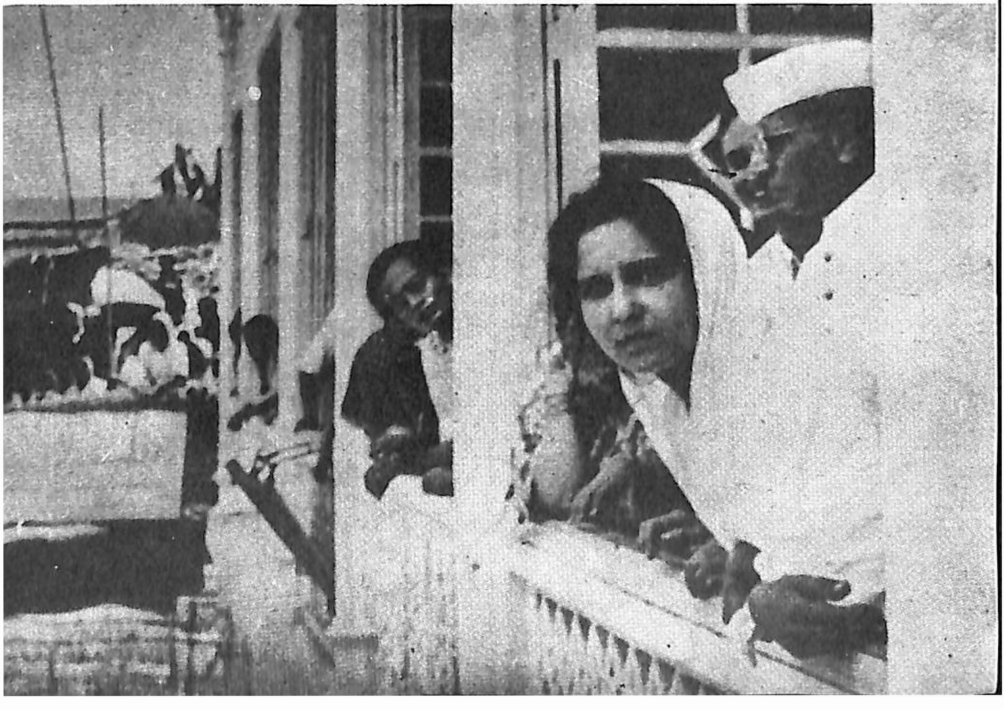

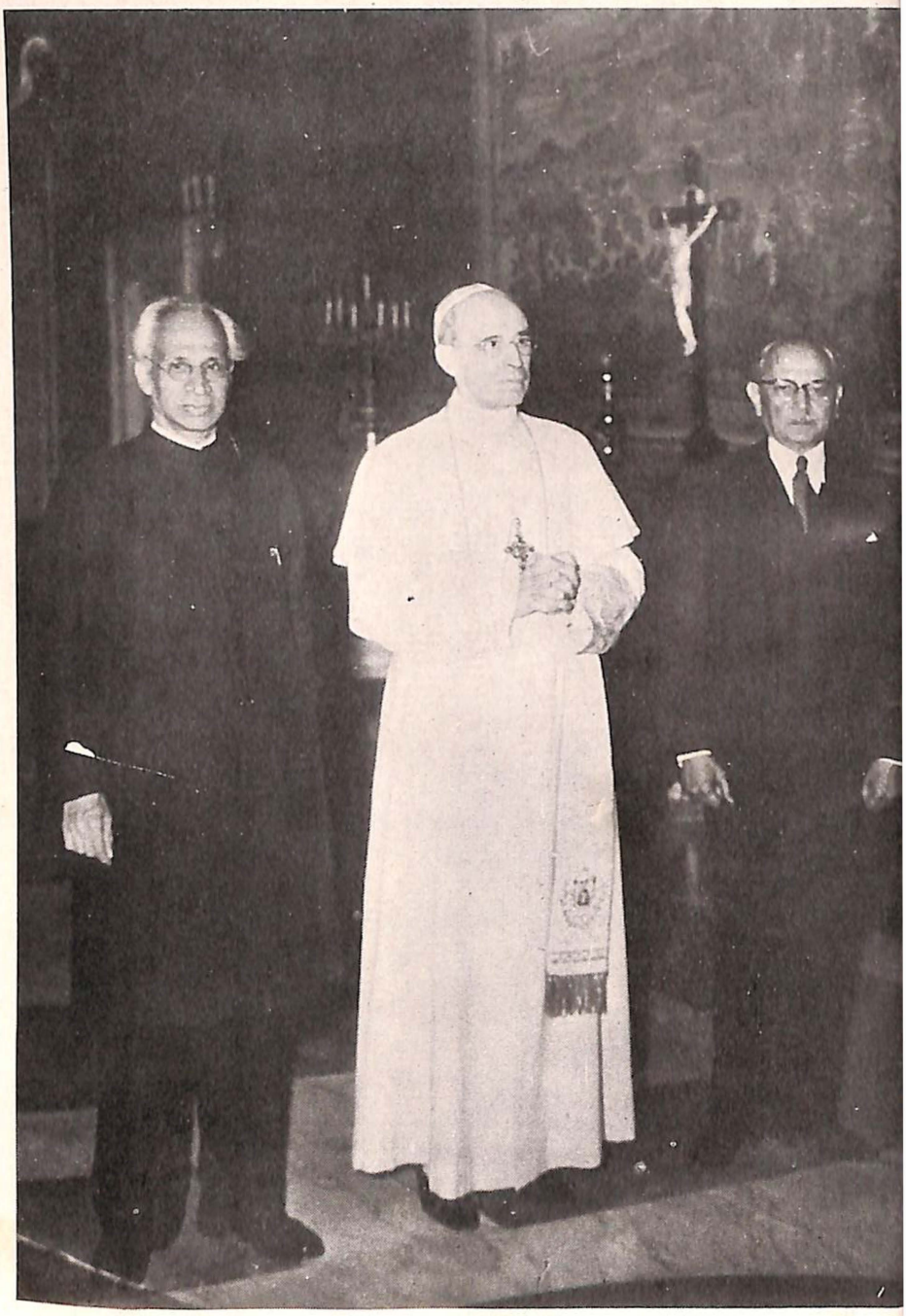

वेटीकन में पोप और डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन के साथ

आसफ का विशेष रुझान दर्शन और साहित्य की तरफ था। प्रोफेसरों को विचलित करने में उन्हें बड़ा मजा आता था और उनके दोस्तों का भी इससे भरपूर मनोरंजन होता था। ये बड़ी मौज के दिन थे। उनकी दादी ने जो कुछ जोड़ बचा कर रखा था, उसे खर्च करने में वह कोई कोताही नहीं बरत रही थी, जिससे आसफ और उनकी मां की जरूरतों को पूरा करने में मदद मिली। यह समय कलात्मक पीड़ा को संवारने का था और उन्होंने इस प्रकार की भावुकतापूर्ण और गढ़-जोड़ कर इस तरह की पंक्तियां अंग्रेजी में लिखी जैसे "पतंगा नहीं जलता, इसके परों की धूप जलती है। बुलबुल वही जो गुलाबों की मृत्युपीड़ा गाती है।"

इसके अलावा कुमायुं के जंगलों और निचली पहाड़ियों में, जहां उनकी दादी का गांव था और जो वंश क्रम से एक दिन उनका ही होने वाला था, छुट्टी की मौज मस्ती के लिए दोस्त रऊफ और ममेरे भाई कासिम के साथ शिकार के दौरे लगाया करते थे।

कुछ ऐसा विचित्र संयोग हुआ और यह जिंदगी का हिस्सा भी है कि आई.सी. एस. परीक्षा में बैठने का स्वप्न कालेज के तीसरे वर्ष की समाप्ति पर नये सिरे से उभर आया। 1909 में वह इंग्लैंड चले गये।

यूरोप का अंतराल

21 वर्ष की उम्र में एक बिल्कुल ही भिन्न जीवन शैली से साक्षात्कार करना बहुत ही आल्हादकारी होता है। आसफ अली लिखते हैं कि "मारसेल्स (दक्षिणी फ्रांस का एक नगर) उन पर एक ऐसी दुनिया की तरह पूरे तौर पर छा गया, जिसकी उन्होंने कभी कल्पना नहीं की थी। वह उस दिल्ली से भी अधिक ढीठ था, जिसे वह पीछे छोड़ आये थे। शाम को रोशनी में चमक आने के साथ-साथ वह असमानता और तेज हो गयी। वह असमानता अपने हर विवरण में दिल्ली के मुकाबले मार्के की थी। दिल्ली जहां घुप्प अंधेरी रातों में रोशनी मद्धिम होती थी, दूकानों में खिड़कियां नहीं थीं, वे चौड़े दरवाजों के बीच बनायी गयी थीं सिवाय उन हिंदू औरतों के जो भोर में नदी में धार्मिक स्नान करती थीं दूसरी औरतें कहीं दिखाई नहीं देती थीं... या दिखाई देती थें वे "बुरी औरतें" (वेश्याएं) जो शाम को सज-संवर कर बुरे पुरुषों (ग्राहकों) को आकर्षित करने के लिए एक बदनाम सड़क के मकानों के बारजे पर बैठी रहती थीं। मैंने यह परिवर्तन पसंद किया और अनजाने यूरोप के बाहुपाश में बंधने लगा।"

मगर नौसिखिए का यह उत्साह उनके मित्र रऊफ के उच्छृंखल व्यवहार के कारण, जो पेरिस के वेश्यागृहों में डुबकी लेने लगा था, एकदम ठंडा पड़ गया। आसफ इस माहौल से राहत पाने के लिए इससे "बच भागे।" बाद में इस पर विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा कि यह "एक बुरी तरह से लालसाग्रस्त कुमारी के संकोच" जैसा था जो उसके मित्र को हास्यास्पद लग रहा था। वह इस बात की भी याद दिलाते हैं कि अधिकांश भारतीयों की तरह जब उन्होंने पहली बार ऐसा शौचालय देखा, जिसमें जंजीर खींचते ही पानी तेजी से बह निकला था, जिससे वह कितने चकित हुए थे।

इस नए जगत में एक बार दीक्षा आरंभ होने के बाद वह बहुत तेजी से आगे बढ़ चले। उन्होंने अपने कुछ मनोभावों को इस प्रकार दर्ज किया है "पेरिस की चौड़ी सड़कों और ट्यूलरीज के साफ पानी की नहरों को देखकर मुझे दिल्ली की बेहाल पुरानी नहरों और चौड़ी सड़कों की याद आ जाती थी...मैं महज भौतिक ही नहीं अपितु मानसिक रूप से भी आराम, सुस्ती, गरीबी और गंदगी से भरी एक दूसरी ही दुनिया का नौजवान था जिसमें "वास्तविक सभ्यता, संस्कृति और आध्यात्मिक श्रेष्ठता का बहुत अधिक गुमान था। अतीत के गौरव तथा लुप्त सौभाग्य की एक धुंधली सी धारणा थी," जिनमें से कुछ "खोखले दंभ की देन" थीं।

आसफ इंग्लैंड के ग्रामीण इलाकों की हरियाली पर मंत्रमुग्ध से थे...उसकी तुलना उन्होंने "चर्च

में आर्गन पर बज रहे मंद स्वर के प्रार्थना गीत'' से की है।

बाद में जब नवीनता की चमक कुछ मद्धिम पड़ी तो उन्हें इस बात का एहसास हुआ कि हम जल्दबाजी में ''पश्चिम के पालिश किये पत्थर और नकली मोतियों को उन बहुमूल्य वस्तुओं के रूप में स्वीकार करने को तत्पर रहते जो वे ऊपर से देखने में चमकदार प्रतीत होती थीं और यद्यपि यूरोप को इस बात का श्रेय था कि उसमें मानसिक और भौतिक उपलब्धियां जीवित और विकासमान थीं...''हम अपनी नियति के शिखर पर पहुंच गए थे और फिर थकान से लस्त-पस्त होकर सो गये थे।'' हम लोग ऐसे करोड़पति जैसे थे जो एकाएक दिवालिया हो गया हो।

इंडिया हाउस, जो आसफ अली को बहुत मनहूस सी जगह लगा था, एक ऐसा केंद्र था, जहां राजनैतिक रुझान रखने वाले भारतीय इकट्ठा हुआ करते थे। वहां पर उनकी मुलाकात जिन अनेक लोगों से हुई उनमें से दो को वह विशेष रुप से याद करते हैं: ''धींगरा, गुमसुम रहने वाला पंजाबी जिसने सर कर्जन विली को गोली मारी थी और सावरकर जिन से वह इतवार की बैठकों में मिला करते थे। उनमें थे विपिन चंद्र पाल और उनका लड़का नानू, इतिहासकार डाक्टर जायसवाल, सिकंदर हयात खां और एक श्री फड़के जो आई.सी.एस. की तैयारी करने के साथ सावरकर की पुस्तक ''हिस्ट्री आफ इंडियन इनडिपेंडेंस'' के अनुवाद में मदद दे रहे थे। स्काटलैंड यार्ड ने सावरकर के क्रांतिकारी संगठन (रिवोल्यूशनरी सोसायटी) के अभिनव भारत के सदस्यों पर नजर रखने के लिए अपने गुरगे घुसा रखे थे। वीरेंद्र नाथ चट्टोपाध्याय का जो चट्टू के नाम से जाने जाते थे, विवरण देते हुए आसफ अली ने उन्हें एक अनोखा जिनियस, एक बहुमुखी भाषाविद्, एक कवि, एक लेखक और विभिन्न विषयों की विस्तृत जानकारी और सूचना का अक्षय भंडार बताया है। उनसे एक स्थायी दोस्ती कायम हो गयी। मांटेगु ने अपनी डायरी में चट्टू को ''तीन प्रमुख अराजकतावादियों में से एक'' के रूप में दर्ज किया था। बाकी दो थें आसफ अली और हरदयाल।

गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में नागरिक अवज्ञा आंदोलन के जरिये धूम सी मचा दी थी। 1909 में उन्हें इंडिया हाउस गुट ने आमंत्रित किया। आसफ अली ने उस अवसर का जो वर्णन किया है वह दिलचस्प है—''वह बाकायदा पुछल्लेदार कोट वाली सांध्यकालीन पोशाक पहने हुए थे। पता नहीं क्यों मुझे यह लगा कि उनके कान, उनके कलफ लगी कालरों से कुछ अधिक ही बाहर निकले हुए हैं। उनके कान बड़े हैं। वह बहुत ही संयत और धीमी आवाज में रुक-रुक कर बोल रहे थे। बेहद विनम्र और शालीन, कहना चाहिए कि दरअसल उन्होंने अपने मुंह से जो दस-बारह वाक्य निकाले उनमें घोर नरमपंथिता थी। उनका भाषण सुनने वाले लोगों का आम ख्याल यह था कि उससे निराशा हुई है। अनेक लोगों ने इसी धारणा की अभिव्यक्ति यह कह कर की कि गांधी जी का भाषण सावरकर के भाषण से बिल्कुल भिन्न था। उस शाम सावरकर के भाषण की विलक्षणता लोगों पर हावी हो गयी थी। यही नियति गोखले की भी हुई जो 1912 में जिन्ना के प्रारंभिक गुरु थे। गोखले ने इंडियन मजलिस में भाषण दिया था और उन्हें पस्त हिम्मत कहा गया था। बोलने के साथ साथ वह घबरा उठे थे! आवाज में वह आत्मविश्वास भी नहीं था जो उनके प्रकाशित लेखों में भरपूर दिखाई देता था, लेकिन उस वक्त वह बीमार थे और लंदन इलाज के लिए आये थे।

दूसरी शामों को आसफ और रऊफ फिर से गली के शरारती छोकरों की अनावश्यक उत्सुकता और नजर से बचने के लिए शाम को गोल हैट और सांध्यकालीन पोशाक में सज-संवर कर लंदन

के सामान्य जीवन में घुलना और थियेटरों के चक्कर लगाना शुरू कर दिया था। यह उस समय की बात है, जब उन्होंने पहली बार पश्चिमी शास्त्रीय संगीत के आंनद का अनुभव किया। उस अनुभव से यह मिसाल भी मिली कि जिस चीज से परिचित नहीं हैं, उसे समझने में सहानुभूति से भरे दिमाग और अधिक से अधिक समझ के विकास के वावजूद कितनी कठिनाई होती है। दोनों मित्रों को लगा कि ताउस्ती की ''गुडबाई'' की लोरी विल्स द्वारा तैयार संगीत रचना उपहास और निराशा की सीमा तक बेसुरी थी। अपनी खिलखिलाहट को रोकने के लिए उन्हे मुंह पर रुमाल रखना पड़ा था...ई.एम. फास्टर को ठीक ऐसा ही अनुभव 1912 में तब हुआ था जब उन्हें अंसारी, आसफ के घर पर पेशेवर भारतीय संगीतज्ञों की महफिल में ले गये थे। उन्होंने स्वीकार किया कि वह संगीत उन्हें बकवास लगा था। इंग्लैंड में अपने प्रवास के तीन महीने के भीतर स्वयं को मौखिक और वाद्य दोनों प्रकार के पश्चिमी संगीत के रसास्वादन में समर्थ बना लिया था; और ताउस्ती का ''गुडबाई'' उनके प्रिय गानों में से एक हो गया था।

चुहल के कुछ क्षण आते रहते थे। ऐसे मौकों पर जब उनकी नजर अंग्रेज मेहतरों और भंगियों पर पड़ती थी। यह देख कर कि हमारे शासक अंग्रेज, खुदा के प्यारे अंग्रेज, वही काम कर रहे हैं जो हमारे अपने भंगी करते हैं, वह बच्चों की तरह आनंद विभोर हो उठते थे। ''मैं और रऊफ तथा हिंदुस्तान के ऊंचे से ऊंचे और खानदानी से खानदानी सभी लोग इन भंगियों की प्रजा थे'' इससे मेरे ख्यालों में गुदगुदाहट सी पैदा होती थी।

इस बीच आई.सी.एस. का आकर्षण गायब हो चुका था। आसफ ने बैरिस्टर बनने का फैसला किया। 'लिंकन इन' में दाखिला ले लिया क्योंकि सर अब्दुल कादिर ने हमें जिन मित्रों से परिचित करवाया था वे इसी 'इन' के थे। उनमें जॉन मोरली और प्रिंस आफ वेल्स (पांचवें जार्ज) भी थे।

सस्ता लेकिन अच्छा भोजन, चाय-यारवाशी, अंग्रेजी रहन-सहन के तौर-तरीके, अंग्रेजी और अंग्रेजी साहित्य तथा कविता में डूबे रहते हुए आसफ अली बेफिक्री की जिंदगी जीने लगे।

अपने इस नये शौक के कारण वह सिंक्लेवर रोड पर पहुंचे ही थे कि अखबार बेचने वालों की तेज चीखती आवाज हवा में तैरी—''वेस्ट एंड में खून''। विली की हत्या से एक सनसनी सी फैल गयी और प्रमुख अखबारों के कालम प्रमुख भारतीयों के आक्रोश और दहशत के बयानो से भरे-जाने लगे। वहां के रहने वाले भारतीयों द्वारा ''कैक्सटन हाल'' में की गयी एक सभा में ''इस नृशंस जघन्य निर्मम हत्या'' की खुल कर भर्त्सना की गयी। 'इंडिया हाउस' ग्रुप के ही एक सदस्य ने सावरकर को डांट कर चुप करा दिया और एक भारतीय साथी ने ही उन्हें छाते से मार भी दिया। दयालु बाबी ने उन्हें सहारा देते हुए बाहर निकाला और प्राथमिक चिकित्सा कराई। बी.सी. पाल ने ''बम का निदान'' शीर्षक से अपना प्रसिद्ध लेख प्रकाशित कराया। यद्यपि इस लेख में एक क्रांतिकारी की मनोदशा का बहुत अच्छी तरह विवेचन किया गया था, लेकिन ''इंडिया हाउस ग्रुप'' के लोगों द्वारा, जो पाल को खूसट, बकवासी और खुराफाती और सच कहें तो प्रतिक्रियावादी मानते थे, इस लेख की अवहेलना की गयी। आसफ के मित्र चट्टू ने पाल के लेख के ही सुर में एक पत्र ''टाइम्स'' को भेजते हुए उसमें यह भी जोड़ दिया कि ''आगे चलकर होने वाली हत्याओं की सूची बहुत लंबी होगी और उसकी जिम्मेदारी अंग्रेज सरकार पर होगी।'' चट्टू की बहन सरोजिनी नायडू ने पत्र की सार्वजनिक रूप से भर्त्सना की, जिससे उन्हें बड़ी खिन्नता हुई। ''वह मेरी बहन है और

उसको कवि होने का घमडं है।'' उन्होंने तिरस्कारपूर्ण स्वर में कहा, ''कसम खुदा की, ऐसी कविताएं तो मैं गजों कातता चला जाता हूं।'' धींगरा पर मुकदमा चला कर उन्हें मौत की सजा दे दी गयी और 'इंडिया हाउस ग्रुप' तितर-बितर हो गया। सावरकर, उनके कुछ नजदीकी सहयोगी और चट्टू पेरिस खिसक गए और आसफ खामोशी से पढ़ाई-लिखाई में जुट गए। वह एक प्रेम प्रसंग के भी शिकार हुए जो पूरे एक साल तक चला। लेक्चरों की हाजिरी पर सख्ती से जोर नहीं दिया जाता था, इसलिए आसफ को कानून को छोड़कर अपने पसंद के किसी भी विषय जैसे इतिहास, दर्शन, कविता और साहित्य के अध्ययन की छूट मिल गयी। बहुत शीघ्र वह विभिन्न साहित्यकारों जैसे वाल्टर पेटर, आस्कर वाइल्ड, इब्सन स्ट्रिंडवर्ग, टॉल्सटाय, तुर्गनिव, दोस्तावस्की, गोर्की, फलाबेयर, दॉते, गातिर, जोला, बाल्ज़ाक और मौरिस विटरलिंक लेखकों के एक तरह के विशेषज्ञ से समझे जाने लगे। बाद में वह शा के मुरीद हो गए।

आसफ अली को जनवरी 1912 में वकील संघ की सदस्यता मिली और वह यूरोप महाद्वीप तुर्की और मिस्र से होते हुए भारत लौटे। भारत से उनके अनुपस्थित रहने के दौरान देश में कुछ बदलाव आ गया था। बंग भंग के फैसले के रद्द किये जाने के बाद मुसलमानों में असंतोष पैदा हो गया था और वे महसूस करने लगे थे कि ब्रितानी शासन के प्रति अब तक की गयी असंदिग्ध वफादारी को जगह पर उसकी आलोचना करना अधिक कारगर सिद्ध होगा। कई मुसलमान नेता, विशेषकर युवक लोग कांग्रेसी हो गए। उन्होंने अपने पुराने हिंदू विरोधी पूर्वाग्रह की केंचुल उतार फेंकी। 1912 की 'इंडियन रिव्यू' में कारणों का स्पष्ट खुलासा किया गया। पिछले कई महीनों से भारत के मुसलमान असंतोष की अवस्था से गुजर रहे थे। जारवादी रूस द्वारा पर्शिया की निर्लज्ज नृशंस हत्यायें, त्रिपोली में तुर्की अधिकार पर अकारण ही इटली का आक्रमण, भारतीय मुस्लिम विश्वविद्यालय के लिए भारतीय मुसलमानों की निराशा ने मिलजुल कर ब्रितानी हुकूमत में मुसलमानों के विषय पर एक बेचैनी का वातावरण तैयार कर दिया और अब बालकन्स में लंबे संकट का आतंक, प्रमुख इस्लामी शक्ति और पूर्वी यूरोप की चार छोटे देशों के बीच जीवन और मृत्यु के संघर्ष में अरबी पैगम्बर के अनुयायिओं को, जो पहले ही क्षुब्ध हुए बैठे थे, बहुत अधिक उत्तेजित कर दिया है।

आसफ अली डा. अंसारी के तुर्की जाने वाले डाक्टरी दल के साथ होने के लिए आधे मन से तैयार थे; ''मुहम्मद अली ने इसे हँसी में उड़ा दिया और अंसारी ने भी उन्हें अपने हल्के और गंभीर लहजे में हतोत्साहित किया।''

भारत की राजधानी को, जो पहले कलकत्ता थी, 12 दिसंबर 1911 को हटा कर दिल्ली लाया गया। इस ऊंघते हुए शहर में काम धंधे के कारण नई जान सी आ गई। एक ओर जहां रायसीना पहाड़ी पर नया शहर बनाने की योजना बनाई जा रही थी वहीं पुराना शहर रास बिहारी बोस के क्रांतिकारी विचारों से जागृत हो रहा था। बहुत तेजी से जगह-जगह गुप्त समितियां गठित होने लगी और विदेशी शासन के प्रति उनके रोष की अभिव्यक्ति 23 दिसंबर 1912 को नई राजधानी बनने के उपलक्ष में दीवान-ए-खास में दरबार लगाने के लिए जाते समय वायसराय लार्ड हार्डिंग के ऊपर बम फेंकने के रूप में हुई। यद्यपि आसंफ की इन तमाशों में कोई खास दिलचस्पी नहीं थी, पर रऊफ तथा अन्य दोस्तों ने उन्हें चांदनी चौक से गुजरने वाले जुलूस को देखने के लिए तैयार कर

लिया। ये तीनों गाड़ी में बैठ कर अंसारी के दफ्तर गए जो ऐसी जगह पर था, जहां से जुलूस अच्छी तरह देखा जा सकता था पर वहां पहुंचने पर हार्डिंग की हत्या करने की कोशिश का वाक्या सुनने को मिला। हार्डिंग का नौकर मारा गया लेकिन खुद उसको मामूली चोटें आयी थीं। अपराधियों की तलाश में 5 माह की छानबीन के बाद पुलिस ने अमीन चंद, (एक स्कूल अध्यापक) बालमुकुंद और अवध बिहारी को गिरफतार कर लिया।

आसफ अली दिल्ली लौट कर प्रसन्न नहीं हुए थे। वह उसे एक अजनबी की आंखों से देख रहे थे। इर्द-गिर्द के चेहरे कितने रक्तविहीन दुखी और विवर्ण से थे। वे भूखे या बीमार दिखते थे। उनके कपड़े कितने किस्म-किस्म के, मामूली और बेडौल —"यहां तक कि उनमें से जो सबसे अच्छी स्थिति वाले लोग थे, यहां तक कि मेरे चाचा और चचेरे भाइयों के कपड़े तक इसी प्रकार के थे।" इसी तरह की खिन्नता उन्हें बंबई बंदरगाह पर भी हुई थी जब उन्होंने पान चबाते हुए कुलियों को देखा, अंग्रेज या यहां तक कि यूरोपियन कुलियों और गाड़ीवालों में जो अनुशासन पाया जाता है, उसकी मामूली सी झलक भी यहां नहीं मिली थी। अदालतों में फौजदारी मुकदमों के वकील के रूप में आसफ अली की शानदार वकालत के बावजूद उन्हें ज्यादा मुकदमें नहीं मिल रहे थे, और इंग्लैंड की तरफ खिंचाव अभी भी प्रबल था। इंग्लैंड जाने का एक सुअवसर उन्हें तब मिला जब एक मुकदमे के मसौदे के विषय में वरिष्ठ वकील से लंदन में जाकर राय लेने की जरूरत पड़ी। उन्होंने जाने की ठान ली और प्रीवी कौंसिल में वकालत करने की बात सोचने लगे।

लेकिन बंबई बंदरगाह छोड़ते वक्त उनके दिमाग मे लाहौर के लारेंस गार्डन की एक दुखद घटना उन्हें पीड़ा देती रही थी। उनके अनुसार, "दिन के तीसरे पहर मैं पुराने सहपाठी और मित्र मुहम्मद तकी के साथ कार से एक लंबी सैर के लिए निकला और लारेंस गार्डन पहुंचा। मोंटगोमरी क्लब के सामने बज रहे बैंड ने मुझे आकर्षित किया। आम लोगों के लिए बनी बेंच पर हम दोनों बैंड सुनने के लिए बैठ गए। कुछ ही मिनटों के बाद मैंने एक वर्दीधारी चपरासी को देखा जिसने आकर तकी के कान में कुछ कहा। तकी तुरंत उठ खड़ा हुआ और उसने मुझसे टहलने के लिए कहा। मैं अनिच्छा से उठा क्योंकि बैंड से जो धुन बज रही थी वह अभी खत्म नहीं हुई थी और वह मुझे अच्छी लग रही थी। थोड़ा आगे निकल जाने के बाद तकी ने बताया कि वह चूंकि क्लब के नियमों के अनुकूल यूरोपियन कपड़े नहीं पहने था इसलिए वह बैंड के नजदीक नहीं बैठ सकता था। यह सुन कर मेरा खून उबल पड़ा। मैं मामले को उठाने के लिए सीट पर वापस जाकर बैठना चाहता था। यह कितनी बेहूदा बात थी कि एक इज्जतदार भारतीय, भारतीय वस्त्रों में अपने ही देश की सार्वजनिक बेंच पर, जिसे भारतीय पैसों से ही बनाया जाता था, नहीं बैठ सकता था।

यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से वह भारत पर ब्रिटेन की हुकूमत से घोर असंतुष्ट थे, पर लंदन का सांस्कृतिक जीवन उन्हें अपनी ओर खींच रहा था। इंग्लैंड में उनका दूसरी बार का प्रवास पोएट्री बुक शाप में जाकर कविताएं पढ़ने, "प्ले गोअर्स" क्लब में जाकर बातचीत करने और थियेटर जाने में बीता। एक दूसरा आकर्षण हैदराबाद की एक विवाह योग्य युवा लड़की थी जिसके प्रति वह थोड़ा आकर्षित थे। इस सबके ऊपर था सरोजिनी नायडू के साथ बातचीत करने का अवसर प्राप्त होना। सरोजिनी नायडू आसफ अली को भाई का सा संरक्षण देती थी। उन्होंने सरोजिनी नायडू से पहली मुलाकात का बड़ा सजीव चित्र खींचा है, "बीमार से दिखने वाले व्यक्तित्व, चुप्पी संजोये, स्वपिनल

और शायद संवेदनाशून्य व्यक्तित्व से सर्वथा भिन्न वह मनोहारी परिधान पूर्ण व्यक्तित्व वाली तेजस्वी असाधारण ढंग से जीवंत और अस्थिर महिला थीं। वह जीवन की चमक और हंसी की जगमगाहट से भरपूर थीं। उनके हाथ मुलायम थे और उनमें सुघड़ता और मांसलता प्रकट होती थी। किसी के हाथ मेरे लिए व्यक्ति की आत्मा के सच्चे प्रतिबिम्ब हैं — हाथ झूठ नहीं बोल सकते। वह एक लमहे के लिए भी चुप नहीं रह सकती थीं और अभिव्यक्ति के लिए कौंधती हुई उनकी तीक्ष्ण मेधा अपने वाक्यों को उससे पहले आप इन्हें पूरा करें, पूरा कर देती थीं और उन पर इतनी तेजी से ताबड़तोड़ टिप्पणियां, सुझाव, जवाब देती चली जाती थीं कि आप अपने ही विचारों पर काबू पाने के लिए छटपटाते घिसटते रह जाएं। वह बड़े आत्मविश्वास से विशेषाधिकार जताने लगती थीं, और आप को तौलने लगती थीं जबकि आप यह तय ही नहीं कर पा रहे होते थे कि रूढ़ और रूढ़िमुक्त व्यवहार में किस तरह के आचरण का चुनाव करें। वह रूढ़िग्रस्तता को चीर कर रख देती थीं, आप की झिझक को मिटा देती थीं और आप को दुविधा, संकोच से मुक्त कर देती थीं।''

जिन्ना, जो अपनी अटपटी जुमलेबाजी जैसे 'ए वोट आफ थैंक्स अपान लार्ड ब्रैसी'' के बावजूद युवा पीढ़ी का ध्यान आकर्षित करने लगे थे और सरोजिनी अपने उन प्रशंसकों के साथ जो लंदन आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज से उनके दरबार में पहुंच रहे थे, उनके चारों और प्रशंसकों का एक दायरा तैयार करने में मदद दे रही थीं। आसफ, मोहम्मद अली (शौकत के भाई) की प्रतिभा की बड़े जोर-शोर से दाद देते थे और वह आसफ को जब तब चिढ़ाती हुई कहतीं, 'मेरा मोहम्मद अली तुम्हारे मोहम्मद अली से आगे निकल जायेगा।' और बाद की घटनाओं ने उनकी बात को सच साबित कर दिया।

1914 की ग्रीष्मऋतु आयी और चली गयी ब्रिटेन ने जर्मनी से युद्ध की घोषणा कर दी। आसफ का मन भारत लौटने का हुआ। एस.एस.अरेबिया जहाज उन्हें 5 जनवरीं 1915 को बंबई बंदरगाह ले आया।

एक सितारे का उदय

आसफ अली जिस दिल्ली में लौटे वह राजनैतिक रूप से शांत थी। स्वदेशी आंदोलन एक छोटी सी याद बन कर रह गया था। 1912-13 में मौलाना मुहम्मद अली द्वारा निकाले गये अंग्रेजी साप्ताहिक "कामरेड" और उर्दू दैनिक "हमदर्द" ने भी कोई खास असर नहीं डाला। यहां तक कि 5 मई 1915 को अमीनचंद और उनके साथी क्रांतिकारियों को फांसी पर लटकाये जाने का भी उतना असर नहीं हुआ, सिर्फ दुकानें ही बंद हुई।

इस माहौल ने युद्ध का मुकाबला करने के लिए रंगरूटों को भर्ती करने में सक्षम बनाया। इसके लिए वे मुसलमान भी सुलभ हो गये जो तुर्की के प्रति अपनी धार्मिक नातेदारी के चलते युद्ध को पसंद नहीं करते थे।

दिल्ली की अंदरूनी स्थिति के बारे में जारी की जाने वाली 14 नवंबर 1914 को खत्म होने वाले पखवाड़े की रपट में कहा गया था: "तुर्की में की गयी कार्रवाई से मुसलमानों को जो सदमा लगा था वह काफी जोरदार था। लेकिन अब वह धीरे-धीरे खत्म हो रहा है। ऐसा लगता है कि अब वह तथ्यों को सही ढंग से समझने लगे हैं। दिल्ली के प्रमुख मुसलमानों ने एकजुट होकर इस आशय के एक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये हैं कि युद्ध धार्मिक नहीं राजनैतिक है।"

बहरहाल, 1915 के अंत तक रुख खासा बदल चुका था। लोगों का जोश हल्का पड़ चुका था और शिकायतें बढ़ गयी थीं ऐसक्विथ ने गिल्डहाल में जो भाषण दिया था उस पर नाराजगी जाहिर की गयी थी और उसे एक विश्वासघात माना जा रहा था। "उन्होंने (तुर्की) ही ओटोमान साम्राज्य की मौत की घंटी बजायी है न कि हमने। मुझे यह उम्मीद और यकीन है कि तुर्की के खत्म होने से उनका वह अंधेर भी खत्म हो जायेगा, जिसने कुछ निहायत खूबसूरत इलाकों को पीढ़ियों से जहालत में डाल रखा था।

राजनैतिक दलों ने उस सरकार का विरोध करने का संकल्प अधिक पक्का कर लिया, जो उनका विश्वास खो चुकी थी। वे अधिक सक्रिय हो उठे। मुस्लिम लीग ने 1915 के अधिवेशन में अपनी निराशा व्यक्त की।

तिलक एक अधिक व्यापक राष्ट्रवाद के लिए प्रांतीयता की सीमा से बाहर आये थे। वे मुसलमानों के लिए अलग मतदाता क्षेत्र बनाये जाने के दावे पर बातचीत करने के लिए तैयार हो गये थे। बदले में मुस्लिम लीग होम रूल की उनकी मांग का समर्थन करने के लिए राजी हो गयी

अत्यंत संरक्षणवादी औद्योगिक गुट युद्ध के दौरान लगायी गयी पाबंदियों के कारण अक्सर संघर्ष की स्थिति में रहता था। वह राष्ट्रीय आंदोलन को किसी तरह की मदद नहीं देता था। अब इसी औद्योगिक गुट से आंदोलन को पर्याप्त वित्तीय सहायता मिलने लगी।

दिल्ली में वकालत शुरू करने के बाद आसफ अली ने यह महसूस करना शुरू कर दिया कि उनका व्यक्तित्व सिर्फ एक जमींदार तक सीमित नहीं है। तिलक और एनी बेसेंट द्वारा प्रोत्साहित राष्ट्रवादी जोश से उत्तेजित आसफ ने अपनी तरह सोचने वाले कुछ दोस्तों को साथ लेकर चांदनी चौक के दरीबा कलां के प्रवेश द्वार पर, भारतीय होम रूल लीग की एक शाखा खोलने का निर्णय किया। सितंबर 1916 में दिल्ली अखिल भारतीय राजनीतिक कार्यक्षेत्र का अखाड़ा बन गयी। इसका श्रेय आसफ अली को ही है। उन्होंने ही लोगों के स्थानीय और प्रांतीय दृष्टिकोण को ऊपर उठाया और उनकी सोच को एक परिपक्व राष्ट्रीय चेतना में बदल दिया। उसके तत्काल बाद स्वदेशी सहकारी भंडार (जो होम रूल लीग का ही एक पूरक संगठन था) खुला। उसका उद्घाटन गांधी जी ने किया। बाद में यही दोनों संगठन उस भावी प्रांतीय कांग्रेस के कार्यकलापों के केंद्र बिंदु बने जिसने एक जन-आंदोलन चलाया। आसफ अली द्वारा ठेठ उर्दू में सरकार की भर्त्सना करने के हंसोड़ और निडर अंदाज ने, बड़ी संख्या में कालेज के छात्रों को होम रूल की तरफ आकर्षित किया। जबकि देश के अन्य भागों में तिलक जैसे स्वराज की मांग करने वाले नेता भी थे और श्रीमती एनी बेसेंट जैसी महिला भी थीं जिन्होंने भारतीयों से कहा, "मैं चाहती हूं कि आप में से हर एक यह महसूस करे कि भारत में स्वतंत्रता का हनन असहनीय है और इसको झेला नहीं जा सकता।" दिल्ली में वह क्षीण होता हुआ अभिजात्य वर्ग था जिसने मध्यम वर्ग में राजनीतिक चेतना जगाई है। दस्तावेजों और पोस्टरों के रूप में कार्यकर्ताओं ने भरपूर प्रचार किया। कार्टूनों और व्यंग्य के सहारे लोगों में विरोध भड़काया गया और सरकार विरोधियों के ज्वार को खत्म करने के लिए प्रेस कानून और भारतीय सुरक्षा कानून बनाने की अपनी घोषणा से पीछे हट गई।

आसफ अली एक ऐसी सरकार पर लगातार दबाव डाल रहे थे जिसने एक भिन्न दृष्टिकोण से भारतीय समस्याओं को सुलझाने के एसक्विथ के वायदे को पूरा करने के लिए कुछ नहीं किया था।

दो वर्ष बीत जाने के बाद भी नीति निर्धारण की दिशा में भारतीयों की अपनी कोई सुनवाई नहीं थी। मेसोपोटेमियाई अभियान सरकार को बदनाम करने का एक सुविधाजनक हथकंडा था।

अधिकारियों ने जवाबी कार्रवाई के रूप में दिल्ली में जुलूस निकालने पर रोक लगा दी। आसफ अली ने अपनी कार्रवाइयों का स्थान दिल्ली से हटाकर दिल्ली और उत्तर प्रदेश की सीमा को बना लिया। उनके जोरदार भाषणों से उनके बहुत सारे समर्थक तैयार हो गए। लोग उनका भाषण सुनने के लिए इक्के-तांगों में लदे हुए उनके नए स्थल पर दौड़े आते हुए देखें जा सकते थे।

अब अनेक मुसलमान नेताओं को सैयद अहमद का लोकोपकारी विदेशी निरंकुश सरकार में विश्वास स्वीकार्य नहीं रह गया था और वे राष्ट्रवादी खेमे की ओर उमड़े आ रहे थे। उसका स्थान

इस पुस्तक में राजनैतिक परिस्थितियों और राजनीतिज्ञों का, ब्रितानी अधिकारियों का जो मूल्यांकन यहां और अन्यत्र दिया गया है, वह उस काल की गृह मंत्रालय की फाइलों से लिया गया है। वह फाइलें नयी दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

अब स्वशासी सरकार की हैसियत पाने का ख्याल ले चुका था। कुछ निहायत समर्पित व्यक्तियों द्वारा दिल्ली को राजनैतिक गतिविधियों के केंद्र के रूप में तैयार किया जा रहा था। इनमें आसफ अली के अतिरिक्त डा. अंसारी, डा. अब्दुर्रहमान, सुल्तान सिंह, अजमल खां, लाला शंकर लाल और शेख मोहम्मद तकी शामिल थे।

ब्रितानी सरकार का अभेद्य मुखौटा बढ़ते हुए विरोध के दबाव में दरकने लगा था। यह समय कुछ सुधार लागू करने का था। मंत्रिमंडल ने चेंबरलेन की जगह पर भारत के लिए मंत्री के पद पर नियुक्त ई.एस. मोंटेगु को सरकार द्वारा परिकल्पित सुधारों की घोषणा करने के लिए कहा। इसके अनुसार 20 अगस्त 1917 को हाउस आफ कामन्स में घोषणा की गई कि "फौज में कमीशन पाने के लिए भारतीयों पर जो प्रतिबंध लगाया गया था वह हटा लिया जायेगा, और प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों को लिया जायेगा। उद्देश्य होगा स्वायत्तशासी संस्थाओं के प्रावधान की स्वीकृति, ताकि धीरे-धीरे एक जिम्मेदार सरकार बनायी जा सके। मोंटेगु ने भारत का दौरा किया। उनके इस दावे के बावजूद कि "दौरे से युद्ध के नाजुक दौर में भारत में 6 माह तक शांति बनी रही" उन्हें ऐसे हालात का सामना करना पड़ा जो कतई संतोषजनक नहीं थे। प्लेग का नए सिरे से भड़क उठना, बंबई में भयानक आर्थिक मंदी और उसके मुंह पर ही ब्रितानी नीति की आलोचना।

आसफ अली को, जो अपने तीक्ष्ण व्यंग्य और निडर अभिव्यक्ति के लिए विख्यात थे, दिल्ली संघ नाम से मोंटेगु के लिए बनायी गयी स्वागत समिति में स्वागत भाषण तैयार करने के लिए चुना गया। भाषण में कटाक्ष किया गया था कि आगंतुक मंत्री में ब्रिटेन की घोर अहंमन्यता पाई जाती है जिसकी समझ से उसका साबका अनपढ़ अर्द्ध-गुलामों से पड़ रहा है और कहा गया था कि भारत अब शिशु नहीं रह गया है अपितु परिपक्व और प्रबुद्ध हो चला है और प्रशासनिक भार में हिस्सा बढ़ाने के अपने अधिकार की मांग करता है। भाषण एक नाटकीय उक्ति के साथ समाप्त हुआ : "यद्यपि दिल्ली कई शासकों का पालना रही है, लेकिन यहां उनकी कब्र भी रही है।"

इस बेलौस और कटाक्षपूर्ण भाषण के बाद अधिकारियों की गुप्त सूचना में आसफ अली के लिए कहा गया था कि यद्यपि उनमें "तिलक जैसी दुष्प्रभावी शक्ति" नहीं है पर "वह एक ऐसी ताकत है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।" क्षुब्ध होकर सरकार ने भारतीय सुरक्षा कानून के अंतर्गत दो प्रधान खुराफातियों आसफ अली और पंडित नेकी राम शर्मा पर जनसभाओं में भाषण देने पर पाबंदी लगा दी। लेकिन दिल्ली का मुख्य कमिश्नर हेली, आसफ अली और उनके गुट के अन्य प्रभावशाली सदस्यों की कार्रवाइयों पर रोक नहीं लगा पा रहा था। वे धर्मशालाओं और कटरों में जो चांदनी चौक में दर्जनों की संख्या में और जामा मस्जिद के इन्द्रप्रस्थ गर्ल्स हाई स्कूल के परिसर में जनता से मिलते और उसे शिक्षित करते रहे।

चांदनी चौक की अनेक गलियों के मकान अपनी बनावट की अभिन्नता के कारण एक दूसरे की तरह लगते थे। एक धर्मशाला का दूसरी से फर्क ही नहीं किया जा सकता था, इन गुप्त मुलाकातों के लिए वे एक आदर्श स्थान थीं। यहीं पर उत्तर प्रदेश और पंजाब में राजनैतिक असंतोष फैलाने की योजना बनी और इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि 1919 में भारत सरकार की गुप्तचर संस्थाओं ने भारत सरकार को आगाह किया कि अगर दिल्ली को इसी समय काबू में नहीं लाया गया तो देर-सवेर परेशानी खड़ी होकर रहेगी और इसमें बहुत देर भी नहीं लगने वाली है।

हेली के गुप्तचर ऐसी हर अफवाह, उड़ती खबर या संचार के पीछे भागते रहते थे जो उन तंग गलियों से इकट्ठा किए जा सकते थे। 1919 के जून माह में होम रूल लीग के सालाना अधिवेशन में भाषण देते हुए आसफ अली और नेकी राम शर्मा गिरफ़्तार कर लिए गए। यह एक याद रखने लायक मुकदमा था। आसफ अली खुद अपने वकील थे और उन्होंने अपना बचाव बड़ी ओजस्विता से किया। हेली खीझ कर रह गए। अतिरिक्त जिलाधीश स्पेन्स ने फैसला सुनाया कि लक्ष्मी नारायण धर्मशाला में एकत्रित भीड़ जनसभा नहीं थी। उन्होंने आसफ अली और पंडित नेकी राम शर्मा को बरी कर हेली को नाराज कर दिया। नतीजा यह था कि हेली ने उसकी अवनति करते हुए, यानी हाकिम परगना बना कर कैथल तबादला कर दिया। तिलक और हसरत मोहानी के बाद यह तीसरा राजनैतिक मुकदमा था जिसकी चारों ओर धूम मच गई। एक कनिष्ठ सहकर्मी, जुगल किशोर खन्ना ने इस मुकदमें के बारे में लिखते हुए कहा : "इस मुकदमे की याद मेरे मन में बहुत साफ है। यद्यपि मैं कालेज का एक छात्र था लेकिन मैं लगातार सुनवाइयों में जाता था। अक्सर कालेज से भाग कर भी। इस बीच मोंटेगु की रिपोर्ट प्रकाशित हो गई थी। इसमें एक ऐसी दुहरी शासन प्रणाली की सिफारिश की गयी थी जिसमें एक दूसरे की रोकथाम के लिए खास सूक्ष्म ब्यौरे तैयार किए गए थे। उसको लेकर मतभेद पैदा हो गया था। नरमपंथियों और उग्रवादियों के बीच दरार जो 1916 में लखनऊ के कांग्रेस अधिवेशन में मिट गई थी अब फिर चौड़ी हो गई। तिलक जो भारतीय "फलक पर अभी तक एक देवाकार पुरुष की भांति लंबे डग भर रहे थे दुहरी शासन प्रणाली पर सहमत नहीं थे, इसे बेकार कह कर खारिज कर दिया।" आसफ ने भी जिन पर अभी तक गांधी के जादू का असर नहीं हुआ था उसका अनुमोदन किया और इसकी अस्वीकृति का सुझाव दिया। लेकिन गांधी के नेतृत्व में नरमपंथी मोंटेगु रिपोर्ट से सहमत हो गये। उन्होंने इसकी नामंजूरी के विरोध में दलीलें दीं। गांधी स्वराज पाने के लिए; (जिसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी थी और जो, "साम्राज्य के भीतर बराबरी की हिस्सेदारी" से आगे नहीं जाता था) अधिक से अधिक लोगों को अंग्रेजी फौज में भर्ती होने पर जोर दे रहे थे।

बहरहाल, फरवरी 1919 में रोलेट कमेटी की रिपोर्ट पर आधारित राजद्रोह कानून के लागू किए जाने पर गांधी का ब्रितानी नेकनीयती पर विश्वास खंडित हो गया। यह साल बहुत महत्त्वपूर्ण था क्योंकि ब्रितानियों द्वारा उठाए गए नासमझी के इस कदम की वजह से गांधी भारतीय राजनीति में एक कुशल सौदेबाज से बदल कर एक नितांत शक्तिशाली हस्ती बन गए। मोंटेगु योजना के ठीक बाद ही रोलट रिपोर्ट के प्रकाशन से राष्ट्रवादी क्रुद्ध हो उठे। उन्हें लगा कि सरकार ने जो युद्ध से पहले की स्थिति को कायम रखने पर उतारू है, उनके साथ छल किया है। राजद्रोह कानून में सम्मिलित दमनकारी नीति ने राष्ट्रवादियों में जवाबी कार्रवाई करने के संकल्प को दृढ़ किया। शांति समझौते में भारतीय भावनाओं के साथ कोई रियायत नहीं की गई थी। ब्रितानी उद्दंडता अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई।

आसफ अली ने, जो दिल्ली के लोगों में राजनीतिक चेतना जगा चुके थे, पूरा जोर दिल्ली में 1918 में हो रहे राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के आयोजन में लगा दिया। इसके लिए चांदनी चौक के फाटक पर स्थित एक बड़ा स्थान पत्थर वाला कुआं को चुना गया। 5000 प्रतिनिधियों के शामिल होने की आशा थी। सभी उसमें बैठ सकते थे। कुछ संगठनकर्ताओं ने लाल किले से

(जिसे वे अतीत और वर्तमान क्रूरताओं का प्रतीक मानते थे) उस जगह की निकटता पर अपनी नाराजगी जाहिर की, उनकी आपत्ति को नजरअंदाज कर दिया गया और सम्मेलन लाजपतराय मार्केट के उस खुले मैदान में किया गया जिसमें अव तंग दुकानें निकल आई हैं। गांधी बीमार थे और सम्मेलन में भाग नहीं ले सकते थे। तिलक जिन्हें सम्मेलन की अध्यक्षता करनी थी एक मानहानि के मुकदमें के सिलसिले में इंग्लैड गए थे। कांग्रेस का यह सम्मेलन पंडित मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। उन्हें विधिपूर्वक एक खुली बग्घी में चार स्वयं सेवियों के साथ, जो उनके अंगरक्षक के रूप में थे, लाया गया। सदा की भांति बादशाह के प्रति निष्ठा की पुष्टि करने के बाद बड़ी संख्या में प्रतिनिधियों ने मोंटेगू चेम्सफोर्ड सुधार नीति के प्रति निराशा प्रकट की। रोलट रिपोर्ट की भर्त्सना की और "स्वशासन" तथा देशी शासन के भारत के अधिकार की पुष्टि की।

आसफ अली ने कुछ ही दिनों पहले दिल्ली में अपनी राजनैतिक जिंदगी की शुरूआत की थी। दिल्ली कांग्रेस उनके संगठनात्मक कौशल का एक दृष्टांत थी। वह उस मंझोली काठी के व्यक्ति की जिसकी लंबाई मौजों सहित मुश्किल से 5 फीट 6 इंच थी। विलक्षण जीवंतता को प्रकट करती थी, जो केवल एक दिन के समय में सभाएं आयोजित कर सकता था, कानूनी अदालतों में जा सकता था, भाषण तैयार कर सकता था और अपनी मुहावरेदार भाषा की शक्ति और खूबसूरती से भीड़ को मंत्रमुग्ध किए रखने के अलावा अपने अध्ययन और संगीत प्रेम के लिए समय निकाल लेता था।

1918 में इंद्र विद्या वाचस्पति ने आसफ अली का जो रेखाचित्र लिखा था वह किसी भी अन्य रेखाचित्र से अधिक मुखर है. इस वर्ष के नवंबर माह में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन में आने वाले प्रतिनिधियों के स्वागत के लिए बनाई गई स्वागत समिति के अध्यक्ष के पद को लेकर एक अड़चन पड़ गई। सवाल उठा कि दो प्रत्याशियों—सुल्तान अली और अजमल खां में से किसे अध्यक्ष बनाया जाय। कोई भी निर्णय नहीं लिया जा सका। दो घंटे के वाद-विवाद और खींचतान के बाद सभा के अध्यक्ष चंद्रिका प्रसाद ने घोषणा की कि आसफ अली बैरिस्टर आप लोगों से कुछ अनुरोध करेंगे। आसफ अली मंच पर आये। विद्या वाचस्पति कहते हैं कि: "उनके चेहरे और वेश की सुंदरता अभी भी मेरे दिमाग में अंकित है. दुबले-पतले, गोरे, मंझोली लंबाई, उनका आकर्षक चेहरा प्रखरता से चमक रहा था। वह दिल्ली के पारंपरिक फैशन के कपड़े पहने हुए थे। सिर पर सफेद दुपल्ली, उन्होंने सफेद अचकन और कसा हुआ सफेद पाजामा पहन रखा था। उनके पैरों में सफेद पंप जूते थे। मैं थोड़ा अचंभे में था, क्योंकि यद्यपि पूरा असर बहुत आकर्षक था पर कुछ अटपटा लग रहा था, लेकिन जब वह बोलने लगे तो लोगों का ध्यान उनके चेहरे से हट कर उनके शब्दों पर आता गया। उनके शब्दों में और खूबसूरत उतार-चढ़ाव वाली आवाज में एक जादू-सा था।"

खिलाफत

रोलट कमेटी की सिफारिशों ने राष्ट्रवादियों को नाराज कर दिया। उन्होंने जनता को बताया कि यदि इसे कानून का रूप दे दिया गया तो इससे उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर बंदिश लग जायेगी। त्यौहारों के मौकों पर तीन से अधिक व्यक्तियों के इकट्ठा होने पर रोक जज के उस अधिकार से भी बुरा होगा जो बिना जूरी के किसी राजनैतिक अपराधी के मुकदमे की सुनवाई करता है। दिल्ली के अखबारों, "विजय", "कौम", "इंकलाब" और "द कांग्रेस" ने रोलट कमेटी के प्रस्तावों को स्वतंत्रता के सिद्धांतो का हनन करने वाला बताते हुए इसके विरोध में शोर मचाया। गांधी जी ने धमकी दी कि अगर रोलट की सिफारिशों को कानूनी रुप दिया गया तो वह एक राष्ट्रवादी सत्याग्रह छेडेंगे।

गांधी जी अभी बवासीर के आपरेशन से पूरी तरह चंगे भी नहीं हुए थे। 7 मार्च 1919 को वह दिल्ली आए और एक सत्याग्रह सभा का गठन किया। उसमें स्वामी श्रद्धानंद, डा. अंसारी, हसरत मोहानी, शंकरलाल आदि थे। आसफ अली ने 'पत्थर वाला कुआं' पर जहां कुछ ही महीनों पहले कांग्रेस के संकल्प गूंजे थे, एक बहुत बड़ी सभा का आयोजन किया। इसमें विशाल जन समूह के सामने गांधीजी का तैयार किया हुआ भाषण महादेव देसाई ने पढ़ा। इस भाषण का मजमून यथार्थवादी, व्यावहारिक और पुख्ता था। इसमें रोलट बिल की बुराइयों से लड़ने के संकल्प का फिर से समर्थन किया गया था। तरीका सत्याग्रह बताया गया था।

रोलट एक्ट 18 मार्च 1919 को पास हो गया और गांधी जी ने मद्रास में राजगोपालचारी को हिदायत दी कि वह 30 मार्च को अखिल भारतीय हड़ताल, उपवास और कारोबार को एक दिन के लिए बंद करने का ऐलान करें। बाद में हड़ताल को 6 अप्रैल के लिए स्थगित कर दिया गया, पर इस निर्णय का समाचार दिल्ली नहीं पहुंचा। दिल्ली में 30 मार्च के लिए तैयारी कर ली गई थी।

प्रदर्शनकारियों ने पूर्ण अहिंसा के आदेश का पालन नहीं किया। उन्होंने अपने विरोध को कुछ हिंसक रूप दे दिया। नतीजा यह हुआ कि पुलिस की ओर से गोली चलाई गई।

हिंदुओं और मुसलमानों के बीच अप्रत्याशित रूप से भाईचारा दिखाई दिया। प्रदर्शनकारियों का दल बहुत बढ़ गया और वे काबू से बाहर हो गए। उन्होंने लोगों को ट्रामों और तागों से उतार कर पैदल चलने पर मजबूर किया। एक सरकारी रपट के अनुसार: "रोलट बिल के पास होने के विरोध स्वरूप रविवार की सुबह शहर की दुकानें आम तौर पर बंद थीं। जिन दुकानदारों ने अपनी दुकानें खोल भी ली थीं उन्हें भी सुबह के समय ही राजी करके दुकानें बंद करा ली गई थीं। 10.30 बजे

सड़कों पर उतर आई भीड़ तांगेवालों को भी शामिल करने और लोगों को पैदल चलने को बाध्य करने के प्रयत्न में लगी थी। लगभग एक या डेढ़ बजे रेलवे स्टेशन के बाहर एक भारी भीड़ इकठी हो गई। कुछ लोगों ने भीतर घुस कर तीसरे दर्जे के मुसाफिरों को खाना मुहैया करने वाले ठेकेदार को अपना काम करने से रोका और उसे हड़ताल का पालन करने के लिए बाध्य करने लगे। ठेकेदार के इंकार करने पर उस पर हमला किया गया और रेलवे पुलिस और स्टाफ ने दो हमलावरों को गिरफ़्तार कर लिया। सैकड़ो की तादाद में जो भीड़ बाहर एकत्र हो गई थी, स्टेशन में घुस गई। स्टेशन का काम पूर्णतः ठप्प हो गया। आसफ अली ने जबकि पुलिस गोलीबारी की निंदा की लेकिन हड़ताल आयोजकों में से एक होने के नाते उन्हें इस बात पर कई बार पश्चाताप हुआ कि वह कैसे इस तथ्य को नजरअंदाज कर गए कि जिस भीड़ को वह संबोधित कर रहे थे उसमें गड़बड़ी फैलाने वाले लोग नहीं होंगे। वह हमेशा अच्छे व्यवहार पर जोर देते थे। अनियंत्रित भावनात्मक ज्वार के प्रति उनके मन में सहानुभूति नहीं थी। नवंबर 1941 में उन्होंने भोला भाई देसाई को जो तार भेजा था उसमें उनके अनुशासन पर जोर देने की बात प्रतिबिंबित होती है। "डा. देशमुख का जो उत्तेजक बयान अखबारों में छपा है, उससे अनुशासनहीनता बढ़ती है। इस प्रकार की अवज्ञा बर्दाश्त के बाहर है। इसे रोकिए; कृपया सरदार, राजेन बाबू से सलाह मशविरा करके उनसे त्यागपत्र देने की मांग करिए।"

लेकिन अधिक संस्कारित दिमागों वाले लोगों को भी घटनाएं अपनी लपेट में ले ही लेती हैं। आसफ अली खिलाफत आंदोलन में खींच लिए गए जो वस्तुतः धार्मिक भावनाओं के ज्वार की एक अभिव्यंजना थी। यह अभिव्यंजना अली भाइयों के आहवान में प्रकट हुई जिसका अनुमोदन गांधी ने किया। खिलाफत आंदोलन की विषमताएं 1921 के मोपला विद्रोह में तब हो गई जब मालाबार के मुसलमानों ने प्रशासन के अफसरों को ही नहीं वरन् अपने हिंदू पड़ोसियों को भी मार डाला।

भारतीय मुसलमानों ने तुर्की सुल्तान की आध्यात्मिक सत्ता को कभी स्वीकार नहीं किया था। उनसे लगभग 40 वर्ष पहले "खिलाफत" के बारे में लिखते हुए सैयद अहमद खां ने कहा था: "खिलाफत का शाब्दिक अर्थ उत्तराधिकार है, और उत्तराधिकारी व्यक्ति को "खलीफा" कहा जाता है। लेकिन "खलीफा" शब्द के साथ अब एक धार्मिक आशय जुड़ गया है; और खलीफा को एक धार्मिक पद पर आसीन व्यक्ति के रूप में देखा जाने लगा है। इस्लाम को पैगम्बर की मृत्यु के बाद, अबू बक्र "खलीफा' की पदवी के साथ उनके उत्तराधिकारी बने। लेकिन वह इन अर्थों में खलीफ नहीं थे जिन अर्थो में पोप सेंट पीटर के उत्तराधिकारी माने जाते हैं। धार्मिक मामलों में उनके कोई अधिकार नहीं थे, सिवाय इसके कि वह पैगम्बर के उपदेशों पर अमल करें। इस मामलें में दूसरे की मदद करें और मुस्लिम जाति की भौतिक जरूरतों का ध्यान रखें। उनकी खिलाफत या सरकार केवल उस देश के मुस्लिम बाशिन्दों तक सीमित है, जिस पर वे राज्य करते हैं...। वह (तुर्की के सुल्तान) उन अर्थो में उन लोगों के खलीफा नहीं हो सकते जिसके ऊपर उनका इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि यहां वे स्थितियां ही नहीं है, जो खिलाफत के लिए जरूरी हैं।"

जब तक खिलाफत आंदोलन के नेताओं ने भारतीय मुसलमानों की भावना को उभारा नहीं थ तब तक वे आम तौर पर सुलतान की नियति से उदासीन से थे। इस संबंध में बंबई गुप्तचर विभाग

के एक अफसर की एक रिपोर्ट का हवाला देना दिलचस्प है: "यही बात खिलाफत आंदोलन के विषय में कही जा सकती है। जहां आम जनता निष्क्रियता की सीमा तक चुप और उदासीन रह सकती है; वहीं शहरी संगठनकर्त्ता उसे चैन से नहीं रहने दे रहे।

"मैंने बंबई की कब्रगाह में जहां रोज और खास तौर से मंगलवार को हजारों लोग पहुंचते हैं, ऐसे इश्तहारों की प्रतियां पहुंचाए जाते अपनी आंखो से देखा है जिसमें मुसलमानों से इन सभाओं में शामिल होने के लिए दरख्वास्त की गई थी, क्योंकि उनका धर्म खतरे में था। अतः आश्चर्य नहीं कि ये सभाएं आयोजकों के लिए बहुत सफल रही थीं, पर भीड़ के छंटने के बाद आम आदमी उसे बहुत जल्द भूल जाता था। मेरे एक मुसलमान मित्र ने, जो मध्यवर्ग के हैं, मुझे बताया कि जब जिया उल इस्लाम ने इश्तहार जारी किए और जब लोगों को इन सभाओं में शामिल होने के लिए प्रेरित किया जा रहा था तब यदि कोई आदमी इस में शामिल नहीं होता था तो उसे 'काफिर' कहकर गालियां दी जाती थीं। इन सभाओं में शामिल होने वाले अधिकांश लोगों को, उसके खास लहजे में कहें तो, यह भी पता नहीं था कि "खिलाफत किस भाजी का नाम है।" आसफ अली निश्चित रूप से जानते थे कि यह किस प्रकार की सब्जी थी, लेकिन चूंकि शहीदों की याद में पटौदी हाउस में आयोजित सभा में उनके विवेक पर सामूहिक भावनाओं ने विजय पा ली थी और खिलाफत के प्रश्न पर गांधी का यह रुख स्पष्ट था कि, "कोई भी भारतीय तब तक शांति से नहीं रह सकता, जब तक खिलाफत का फैसला मुसलमानों के पक्ष में नहीं हो जाता" शहीदों की स्मृति में "शहीद हाल" नाम से स्मारक बनाने के प्रस्ताव पर विचार किया गया। स्वामी श्रद्धानंद ने इसके लिए फंड इकट्ठा करने का अनुरोध किया।

आसफ अली, जिनमें लगन का कभी अभाव नहीं रहा था, लोगों को उदारता पूर्वक दान करने के लिए समझाते, उत्साहित करते और घेरते रहते। चंदे के रूप में उन्होंने 42000 रुपये एकत्र किए। पर यह योजना विफल रही। इसके लिए अभी एक लाख पचास हजार रूपयों की जरूरत थी। इसमें से सिर्फ आसफ अली के हिस्से का ही चंदा आ सका था।

22 मार्च को पटौदी हाउस में असहयोग आंदोलन शुरू करने के सवाल पर बहस के लिए हिंदू और मुसलमान नेताओं की जो बैठक हुई थी, उसमें विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करने के गांधी जी के आह्वान को तत्कालीन स्वीकृति मिल गई। लगभग इसी समय खिलाफत के मसले पर तिलक के प्रतिकूल रूख के कारण आसफ अली गांधी जी की ओर झुक गये। कांग्रेस के नेतृत्व के लिए खींचतान हुई होती पर तिलक बीमार पड़े और मर गए अब बागडोर पूरी तरह गांधी जी के हाथ में आ गई।

सरकार ने जन सभाओं पर प्रतिबंध लगाने के लिए राजद्रोही कानून लागू कर दिया। उन्होंने इन अवरोधों की चुभन महसूस की। सरकार का मखौल उड़ाते और अवज्ञा करते हुए मुंहतोड़ जवाब दिया। उन्होंने किराए पर एक ऊंट लिया। और इस पर इश्तहार लगे तख्ते बंधवा दिये, जिनमें लोगों से कहा गया था कि वे कर न चुकाएं। इस जानवर को पूरे शहर में घुमाया जाता रहा और इससे लोगों का खूब मनोरंजन होता रहा। इसका चरम बिंदु यह था कि पुलिस ने किसी प्रहसन के विदूषक की तरह ऊंट को गिरफ़ार कर लिया और अपने को उपहास का पात्र बना लिया। आसफ अली की खासियत यह थी कि वह नौकरशाही पर अपने हमलों को अवज्ञापूर्ण और व्यंग्यात्मक चुहल का रंग

दे दिया करते थे। कांग्रेस ने विधान सभा चुनावों का बहिष्कार करने का फैसला किया तो मौलाना अब्दुल्ला से सांठ-गांठ करके आसफ अली ने सरकार की तौहीन करने के लिए एक पुरलुफ़ योजना तैयार की। दिल्ली के एक मात्र स्थान के लिए उन्होंने सरकार के वफादार राय बहादुर शिव नारायण के विरूद्ध अब्दुल हमीद नाम के एक हलवाई को खड़ा किया और हलवाई जीत गया।

आसफ अली के व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष था उनका क्रियाशील होना। उन्होंने प्रांतीय विधान सभाओं के चुनाव में खड़े होने वाले उम्मीदवारों को सामाजिक बहिष्कार करने की धमकी दी और उनका मनोबल गिरा दिया। इससे पहले उन्होंने इसी प्रकार की दृढ़ता का परिचय "सरकारी प्रेस' की एक हड़ताल तथा दिल्ली के ट्राम कार्यकर्ताओं की हड़ताल (जो 18 दिन तक चली थी) क नेतृत्व करते हुए दिया था। 1920 के नवंबर के राजनीतिक सम्मेलन में आसफ अली ने एव रचनात्मक असहयोग योजना की वकालत की, लेकिन गांधी ने महसूस किया कि यह एक समानांतर सरकार बनाने के समान है और अभी इसका समय नहीं आया है। उन्होंने सुझाव दिया कि इस प्रस्ताव को एक उप समिति को सौंप दिया जाए। वहां, जैसा कि पहले से ही अनुमान था, यह प्रस्ताव रद्द कर दिया गया।

लुसाने की संधि भारत के मुसलमानों के लिए एक कठोर प्रहार थी। तुर्की, सीरिया, फिलिस्तीन मेसोपोटामिया से हाथ धो बैठा। मिस्र पर उसका नाम मात्र का जो आधिपत्य था वह भी उसने खो दिया। प्रमुख मुस्लिम उलेमा और मौलवी बाड़ा हिंदू राव में मिले और जमायते उलमाए-हिंद की स्थापना की। उन्होंने मुसलमानों और विशेषकर मुसलमान नेताओं से दाढ़ी बढ़ाने का अनुरोध किया। इस आह्वान पर तुरंत आसफ अली, अंसारी, शेरवानी और अब्दुल हमीद इलाहाबादी ने अमल किया। ग्यारह अगस्त को आसफ अली ने मेरठ के हाजीपुर गांव में 5,000 लोगों के सामने यह घोषणा की कि वह वकालत छोड़ रहे हैं। यह असहयोग कार्यक्रम के अनुसार किया गया था जिसमें अंग्रेजी माल, कानूनी अदालतों और स्कूलों का बहिष्कार शामिल था। आसफ अली ने दिल्ली में एक ऐसी पंचायत का गठन किया जो एक पेड़ के नीचे बैठकर ही स्थानीय झगड़े क निबटारा कर सके। इसकी अध्यक्षता भी वह खुद दो माह तक करते रहे। फिर इसकी अध्यक्षत एक दूसरे वकील मोहम्मद तकी को सौंप दी।

अगला वर्ष उन्होंने अपने कार्यकताओं के साथ दिल्ली की सड़कों और बाजारों में धरना देकर दुकान के मालिकों को आयातित विदेशी कपड़ो का स्टाक रखने की भर्त्सना करने और प्रदर्शन में बिताया। गधों के झुंड लेकर उन्हें विदेशी सामग्री से लैस करके किसी मजाकिया फैशन शो की भांति सड़कों पर उनकी परेड करवाई गई। स्पष्टतः आसफ अली शासन का सिरदर्द बन रहे थे।

12 दिसंबर को स्वंयसेवक दलों के विभिन्न संगठनों ने आसफ अली के घर पर उस संकल्प पत्र के प्रति निष्ठा की शपथ लेने के लिए बैठक की जिसका प्रारूप आसफ अली ने तैयार किया था "ईश्वर को साक्षी मानकर मैं (1) शांतिपूर्ण प्रयासों से स्वराज हासिल करने (2) भारत की विभिन्न जातियों और धर्मों की इज्जत करने (3) किसी भी जाति को अछूत न मानने (4) अपने जीवन और जायदाद को देश की इज्जत के लिए न्योछावर करने (5) केवल हाथ से बनी खादी पहनने (6) बिना किसी हील हुज्जत के वरिष्ठ लोगों की आज्ञा मानने की शपथ लेता हूं, और शपथ लेता हूं कि (7) जब तक मैं पार्टी से बाहर नहीं निकल जाता अथवा उस समय तक जब तक

कांग्रेस इस नीति का पालन करती है, अहिंसा को धर्म मानना और दूसरों को भी ऐसा ही करने के लिए प्रेरित करना मेरा कर्त्तव्य होगा और अंत में (8) स्वंयसेवी दल का एक सदस्य होने के नाते मैं अपने लिए या अपने आश्रितों के लिए किसी भी प्रकार का मुआवजा स्वीकार किए बगैर अपने रास्ते में आने वाली पर आपदा का मुकाबला करूंगा।"

आसफ अली ने अपने स्वयंसेवी दलों के साथ जामा मस्जिद की ओर कूच करने के अपने निर्णय की सूचना अधिकारियों को पहले दे दी थी। उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। फौजदारी संशोधन अधिनियम की धारा 17 (2) के अंतर्गत उनको डेढ़ वर्ष की सजा दी गई। दिल्ली में राजनैतिक कैदियों को रखने की कोई व्यवस्था नहीं थी इसलिए उन्हें पंजाब के मियां वाली जेल में भेज दिया गया। वहां से उन्होंने गांधी को लिखा: "मैं भाग्यशाली हूं कि मुझे जेल से आपको पत्र लिखने की इजाजत मिल गई। नजरबंदी के पहले ही डा. अंसारी मेरा आपरेशन करने की तैयारी कर रहे थे लेकिन मैंने मना कर दिया। कारावास के इस महत्त्वपूर्ण अवसर को मैं खोना नहीं चाहता था और मुझे आश्चर्य होता है, यह देखकर कि जेल में मेरी तन्दुरुस्ती बहुत अच्छी हो गई है। जिस जेल में हम आजकल है, वह किसी समय नवाब आसफ खां का महल था। हम लोग बहुत अच्छी तरह हैं। जेल जीवन की कठिनाइयों की यादें एक सैनिक के शरीर पर चोटों के निशान की तरह हमेशा चिपकी रहेगी।"

यह खिलाफत आंदोलन का अंतिम चरण था जो कि शीघ्र ही समाप्त हो गया।

विवाह

1920 वर्ष आसफ अली के लिए दूसरी दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण था। वह 40 वर्ष के गये थे और उन्होंने पहली बार उस भावना का उद्वेलन अनुभव किया जिसके बारे वह अनजान थे। निश्चय ही यह एक चाह थी। यह कामशक्ति भी नहीं हो सकती हैं, यह उस तरह का प्रबल और टिकाऊ आकर्षण और आत्मीयता की अनुभूति नहीं थी, जो विवाह रूप ले सके। विवाह के कई प्रस्ताव आए थे जिसमें हैदराबाद के एक रईस परिवार के प्रस्ताव बहुत जोर दिया जा रहा था। लेकिन आसफ अली तयशुदा विवाह और ऊंचे तबके के पारिवारि जीवन की उबाऊ रूढ़ियों को मानने के लिए राजी नहीं हो सके।

वह प्रसन्न थे कि उन्होंने रास्ते में इलाहाबाद में रुकने का निश्चय किया था। कलकत्ता में बा सरगर्मी थी और उन्होंने अपने एक मित्र प्यारे लाल बेनर्जी, जो उन दिनों एक प्रमुख वकील थे, पास रहकर, आराम करने की आवश्यकता महसूस की। इलाहाबाद का बेनर्जी का यह मेहमानवाजी और बेतकल्लुफी के लिए मशहूर था।

आसफ अली को प्यारे लाल की पुत्रवधू पूर्णिमा की फब्तियों से काफी लुत्फ आया और उसकी नाजुक बदन बहन अरुणा गांगुली पर मुग्ध हो गए। यह किशोरी उस सुंदर सलीके से क पहने मशहूर हस्ती को जिसे अपनी शोहरत का गुमान तक नहीं था और जो अपने में तेजी से बढ़ हुए उसकी दिलचस्पी से चकित सा दिखाई देता था, अपनी कजरारी आंखों से दबे-दबे निहार रहती थी। उनकी परिष्कृत शिष्टता पर वह मंत्रमुग्ध हो रही थी और इस बात पर फूली नहीं समा थी कि वह उसकी ओर खास तौर से ध्यान दे रहे थे, परंतु जब तब कांवेंट में शिक्षित बालिका नाते अपने भीतर घर किए मूल्यों के कारण उसे उनके चुभते हुए फिकरेबाजियों, दुनिया के बारे उनके नजरिए से जो उस आनंदहीन, निराशापूर्ण जगत से, जिसकी तस्वीर उसके स्कूल संन्यासिनी अध्यापिकाओं ने उतार रखी थी, इतना भिन्न और इतना रंगीन था कि धक्का सा भी लग था। मुक्त प्रकृति की होने के कारण अरुणा उस राजनीतिक भागीदारी की उस नई दुनिया से आव हुई जिससे उसका परिचय आसफ अली ने कराया था।

अरुणा और आसफ अली का विवाह इसलिए नहीं हुआ कि वे एक दूसरे पर दिलोजान से हो गए थे। इसके विपरीत, उन्हें एक वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जिसके दौरान उन्हें माता-पिता घोर विरोध का सामना करना पड़ा और जिसके चलते न केवल उनकी एक-दूसरे में रुचि की परख हुई अपितु वह और मजबूत भी हुई।

उपेंद्र नाथ गांगुली की तरफ से लड़की के विवाह में विरोध के तीन कारण थे। एक कारण तो यही था कि आसफ अली मुसलमान थे और यह वह समय था जब सांप्रदायिक दंगे अक्सर भड़क जाया करते थे, जिनकी चरम परिणति दिल्ली में स्वामी श्रद्धानंद के कत्ल में हुई थी। दूसरा कारण उम्र का फर्क था। अरुणा जब आसफ से मिली और उनकी तरफ आकर्षित हुई तो वह मुश्किल से 19 वर्ष की थी। तीसरे आसफ अली ऊंचे खानदान के थे लेकिन अब उनके पास वह समृद्धि नहीं रह गई थी। उन्होंने राष्ट्रीय कामों के लिए अपने पारिवारिक धन और प्रमुख फौजदारी वकील के रूप में भी अपनी कमाई का बड़ा हिस्सा राष्ट्र के नाम अर्पित कर डाला था। श्री गांगुली जिनका संयुक्त प्रांत में नैनीताल के पहाड़ पर एक टूरिस्ट होटल था, अपनी बेटी को किसी अच्छे भद्रलोक बंगाली से ब्याहना अधिक पसंद करते।

आसफ अली की मां के लिए उनके बेटे की अरुणा से शादी की सूचना एक धक्के के समान थी, क्योंकि एक तो शादी जाति के बाहर थी और दूसरे ऊंचे सामाजिक स्तर के मुसलमान परिवारों से बहुत आकर्षक प्रस्ताव आए हुए थे।

उनके प्रथम मिलन और विवाह के 9 माह के दौर में आसफ द्वारा अरुणा को लिखे गए पत्रों में कोमल भावनाओं के अतिरिक्त बहुत कुछ कहा गया था। इन पत्रों में वह (जो जवाहर लाल नेहरु द्वारा अपनी बेटी इंदिरा को लिखे गए पत्रों के समान ही थे।) दुनिया के संदर्भ में भारत के राजनीतिक इतिहास की व्याख्या करते हैं। इनमें उनके दार्शनिक विश्वासों का और उन मूल्यों का इजहार किया गया है जिनके अनुसार जीवन जिया जाना चाहिए। परिणाम था दिमागों का मिलना। विवाह के लिए शायद यह सबसे अच्छा और मजबूत आधार भी है।

विवाह के कुछ ही दिनों पहले अरुणा के पिता की मृत्यु हो गई। उनके छोटे भाई नगेंद्र नाथ भी जो विश्वविद्यालय में एक प्रोफेसर और शाही कृषि आयोग के एक सदस्य भी थे, इस प्रस्तावित विवाह के समान रूप से विरोधी थे। उन्होंने नैनीताल के डिप्टी कमीशनर को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने कहा कि वह अब अरुणा के अभिभावक हैं और अरुणा अभी भी नाबालिग है इसलिए उसकी शादी की रजिस्ट्री नहीं हो सकती। लेकिन विवाह होकर रहा। इस विवाह के साथ एक ऐसा सहचर्य आरंभ हुआ जो नागरिक अवज्ञा आंदोलन के दौरान दोनों के बीच-बीच में जेल चले जाने के कारण पैदा होने वाले व्यवधान तथा 1942 के नागरिक अवज्ञा आंदोलन और बाद में एक समाजवादी और ट्रेड यूनियन नेता के रूप में अरुणा की राजनीतिक गतिविधियों के बावजूद कायम रहा।

यद्यपि यह आसफ अली ही थे जो अरुणा को राजनीतिक जीवन में ले आए लेकिन वह बहुत कम समय में क्रांतिकारी रास्ते पर आगे बढ़ गई, जबकि उनके पति यूरोपीय उदारवादी के सिद्धांतों में ही गहरा यकीन करते रहे। आसफ अली ने अपनी जिंदगी एक राजनीतिक नरमपंथी नेता के रूप में शुरू की और समस्याओं के समाधान और जन कल्याणकारी राज्य बनाने के लिए संवैधानिक तरीकों पर विश्वास करते रहे। इस मामले में वह शुरू में सी.आर. दास और मोतीलाल नेहरु तथा अपने समकालीनों में सीं. गोपालचारी तथा मौलाना आजाद की तरह थे।

दूसरी तरफ अरुणा राजनीतिक और सामाजिक बदलाव के लिए क्रांतिकारी तरीकों में विश्वास करने लगी थीं। उनके इस विचार के कारण ही एसक्विथ ने गृह मंत्रालय के एक सदस्य को लिखते

हुए उन पर यह टिप्पणी की: "मैं नहीं सोचता कि 1942 प्रस्ताव के संबंध में आसफ अली की कथित राय को महत्ता दी जानी चाहिए।" जैसा कि आप जानते हैं कि "उनकी पत्नी ने 1942 में बम बनाने वालों की सहायता करने और अराजकता फैलाने के अन्य तरीकों में मदद की थी।" महात्मा गांधी ने उनके लिए कहा: "संवैधानिक मोर्चे से अलग हट कर अरुणा हिंदू और मुसलमान एकता को बनाए रखने के लिए काम कर सकती है।"

यह सब कुछ बाद में हुआ। उन दिनों दोनों तरफ के रिश्तेदारों के असहमतिपूर्ण रुख के बावजूद वे दोनो प्रसन्न थे। आसफ अली लगभग पितृवत कोमलता से अरुणा पर स्नेह रखते हुए उनकी फिक्र किया करते थे। 1930 में उनके विवाह के बाद पहला अलगाव तब हुआ जब आसफ अली की नागरिक अवज्ञा आंदोलन में गिरफ़्तारी हुई। उसके ठीक बाद नमक सत्याग्रह के दौरान अरुणा की भी गिरफ़्तारी हुई तो यह झक खत्म हो गई। बाद के वर्षों में उनकी एक जैसी राष्ट्रवादी प्रेरणाओं की वजह से उन्हें उसी वर्ष फिर से कैद हुई और फिर उनके राजनीतिक रास्ते अलग-अलग हो गए। अरुणा भूमिगत होकर जुझारू वामपंथी राजनीतिक गतिविधियों में अपने को लगाती गयीं। जबकि आसफ अली बैरिस्टर, मंत्री, राजदूत, या राज्यपाल का रूप धारण करते रहे। इसके बावजूद उनकी आपसी सूझबूझ और एक-दूसरे के प्रति प्रेम भाव आखिर तक कायम रहा।

विधायक और एक जिज्ञासु व्यक्ति

तीसरे दशक के खत्म होने के वक्त तक भारत में घटनाएं काफी तेजी से मोड़ ले रही थीं। नागरिक सुरक्षा विधेयक और श्रमिक विवाद विधेयक के खिलाफ राष्ट्रवादियों का आंदोलन चल रहा था। दो युवा क्रांतिकारियों भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त द्वारा केन्द्रीय विधान मंडल में सरकारी पक्ष पर बम और परचे फेंके गए। कुछ महीनों के बाद ही निजामुद्दीन स्टेशन के पास वायसराय की ट्रेन को उड़ा देने का एक असफल प्रयास किया गया। ब्रिटन में लेबर पार्टी की सरकार बनने पर भारत में लोगों की उम्मीदें बहुत बढ़ गई थीं, पर बाद की घटनाओं से सिद्ध हुआ कि यह सब बेवजह था। लार्ड इरविन ने घोषणा की थी कि भारत को स्वायत्तक्षासी राज्य का दर्जा देना उसके संवैधानिक विकास का एक स्वाभाविक मुद्दा है। इसको ब्रिटन के लिबरल और कंजर्वेटिव दोनों नेताओं ने स्पष्ट रूप से नामंजूर कर दिया।

दिसंबर 1929 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में "पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य" की घोषणा की गई।

भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त का मुकदमा बहुत तेजी से चला और बचाव पक्ष के वकील के रूप में आसफ फांसी रुकवाने के लिए कुछ खास नहीं कर सके। भगत सिंह को बाद में सांडर्स हत्याकांड में साथ देने के लिए प्राणदंड दिया गया। भगत सिंह फांसी पर लटकाए जाने के बाद एक राष्ट्रीय हीरो "माइकेल कालिन्स" बन गए।

इस मुकदमें के ठीक बाद श्रम विवाद उभरे जिनके कारण व्यापक हड़तालें हुई। कांग्रेस ने अंग्रेजी कपड़ों के बहिष्कार और खादी तथा अन्य देशी सामान के इस्तेमाल पर पुनः जोर देनें का एक नया प्रस्ताव पारित किया। विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के तीव्र अभियान के कार्यक्रम की रूपरेखा बना कर पर्चे बांटे गए। "व्यापार के ताजे ब्यौरों से पता चलता है कि अंग्रेज बहिष्कार के बावजूद इस देश में अपना सामान जमा करते जा रहे हैं। हाल के ही कुछ महीनों में धूर्त सटोरियों ने सूती कपड़ों के आयात को बढ़ाने में इस उम्मीद में मदद दी कि वे इसे उपभोक्ताओं तक पहुंचाने में कामयाब हो जायेंगे। इस प्रकार के प्रयलों को विफल करना जरूरी है।"

दुकानों पर धरना देने के अलावा व्यक्ति के दुकान पर पहुंचने से पहले उसके दिमाग पर धरना देना जरूरी था। इसके लिए शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में किसी भी अंग्रेजी सामान की खरीदारी के विरोध में एक विस्तृत प्रबल और आक्रामक प्रचार का कार्यक्रम चलाया गया। इस कार्यक्रम में सभाएं करने और घर-घर जाकर लोगों से बातचीत करने और कांग्रेस कार्यकर्ताओं, पुरुषों और

स्त्रियों द्वारा बहिष्कार करने के नारे और पुस्तिकाएं तैयार करने और बटोरने का काम शामिल था।

वायसराय से गांधी की बातचीत कांग्रेस और सरकार के बीच गतिरोध को सुलझाने में सहायक नहीं हो सकी और दूसरा अवज्ञा आंदोलन 1930 के प्रारंभ में चलाया गया। आसफ अली जिन्होंने दीवानी और फौजदारी अदालतों पर धरना देने के लिए, कश्मीरी गेट तक एक जुलूस ले जाने और उसे संगठित करने में मदद की थी, गिरफ़्तार कर लिए गए। उन्हें 6 मास की सजा हो गई। आंदोलन; जो शांतिपूर्ण ढंग से शुरू हुआ था, नमक सत्याग्रह में गांधी की गिरफ़्तारी के बाद हिंसात्मक हो गया। पेशावर और शोलापुर में भीड़ अनियंत्रित हो गई और उसने दुकानों को लूट लिया। बंगाल में क्रांतिकारियों ने जान पर खेलकर चिटगांव के शस्त्रागार पर हमला कर दिया जिसमें 6 सरकारी कर्मचारी मारे गए और वे बड़ी संख्या में हथियारों के गुप्त भंडार और गोला बारुद लेकर भागने में सफल हो गए।

दिल्ली में एक क्रांतिकारी दल 'हिन्दुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन पार्टी' ने (जिसका नेतृत्व चंद्रशेखर आजाद कर रहे थे) सरकार का तख्ता पलटने के लिए चंदा इकट्ठा करने के उद्देश्य से हथियारों से लैस डकैतियां डालीं। इससे पहले इसी दल ने वायसराय की ट्रेन को उड़ा देने का असफल प्रयत्न किया था, पर अभी तक गिरफ़्तारी से बच निकल रहा था। पुलिस तब तक निष्फल ढंग की भूलें करती रही और जब तक उसने कैलाशपति को जो बाद में मुखबिर बन गया, पकड़ ही नहीं लिया, संयोग से उन्होंने एस.एच. वात्स्यायन की भी शिनाख्त कर ली जो "साइंटिस्ट" के नाम से जाने माने जाते थे और बाद की पीढ़ी के भारतीय लेखकों के बीच 'अज्ञेय' नाम से परिचित हुए। उनका ब्यौरा कैलाशपति ने खासे विस्तार से दिया था: 'उम्र लगभग 25 वर्ष, लंबाई लगभग 5 फीट 11 इंच, सुगठित शरीर, गेहुआं रंग, गोल भरा हुआ चेहरा, कोरों पर कटी हुई हल्की मूंछें, काले फ्रेम का चश्मा। कहा जाता है कि उसने औद्योगिक कैमेस्ट्री में गोल्ड मेडल पाया था और दल में वैज्ञानिक के नाम से जाना जाता है।" पुलिस जो झंडेवालां के वीरान साबुन कारखाने की रहस्यमय गतिविधियों का पता लगाने की कोशिश कर रही थी उसने वात्स्यायन को अमृतसर से जहां उन पर हथियार कानून के मामले में मुकदमा चल रहा था पकड़ लिया। वह दिल्ली पहचान के लिए लाये गए। एक प्रगति रिपोर्ट में उनके विषय में कहा गया है: "एस.एच. वात्स्यायन जिनके बारे में विश्वास किया जाता है कि वह झंडेवालां रोड के बारूद बनाने वाले कारखाने के वैज्ञानिक हैं, और जिन पर अभी भी मुकदमा चल रहा है। बड़ा उग्र रूप अख्तियार कर लिया। शिनाख्त परेड में शामिल होने के लिए राजी होने से पहले उन्होंने बहुत सारी बेतुकी मांगें रखीं।"

मुकदमा लंबे समय तक चला और उस विशेष कार्य पर तैनात पुलिस आयुक्त ने कुछ अभियुक्तों को अपनी वकालत खुद करने की इजाजत देने की अव्यवहारिकता को लेकर शिकायत की। विशेष रूप से वात्स्यायन और विद्याभूषण को जो नितांत उद्भट जिरहकर्ता थे, गवाहों से भरपूर जिरह करने की अनुमति दे दी गयी थी और उन्होंने अभियोजन पक्ष को सात महीने तक नाकों चने चबवाया। बचाव पक्ष के वकील के रूप में आसफ अली ने अंततः मुकदमें को वापस लेने में सफलता पाई। 14 में से केवल दो को नजरबंद किया गया। चार को छोड़ दिया गया और 8 पर विशेष जुर्म लगाए गए।

• मुकदमें की सुनवाई के दौरान आसफ अली ने जेल वार्डेन मेजर एस्पनेल द्वारा उनको लिखा गया

एक पत्र इसलिए बिना पढ़े वापस लौटा दिया क्योंकि पत्र के पते पर केवल "मिस्टर आसफ अली" लिखा था न कि 'श्रीमान आसफ अली'। उनके विचार से न्यायाचार के तरीके से लिंकन-इन से निकले एक बैरिस्टर को आदर के साथ संबोधित किया जाना चाहिए था। वर्षों बाद विधान सभा के सदस्य की हैसियत से गुरुदासपुर जेल से "जान थोर्न" को लिखे पत्र में उन्होंने इसी प्रकार अपनी हैसियत के दावे पर बल दिया था। "जब श्री होर्डर या हाडुर नाम का पुलिस अफसर 4 और 5 बजे शाम को हाजिर हुआ तो इसे क्षमा याचना करनी चाहिए थी। क्षमा याचना तो दूर उसने शिष्टाचार में "शुभ दिन" तक नहीं कहा। प्रजातंत्र में भारतीय संसद और मुख्य रूप से भारतीय सरकार की बातें बहुत-बढ़-चढ़कर की जाती हैं। क्या इंग्लैंड में संसद के एक सदस्य के साथ जिसे 33 महीने तक नजरबंद रखा गया हो और जो अन्य बातों का लिहाज तो अलग, सबसे बड़े लोकतांत्रिक दल का सदस्य हो, कोई सरकारी कर्मचारी इसी प्रकार का व्यवहार करता।"

जब असहयोग आंदोलन में तेजी आ रही थी, ठीक तभी, गांधी ने इरविन के साथ शांति सुलह वार्ता शुरू करने का इशारा किया। वह भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को, (जिन्हें 23 मार्च 1931 को फांसी दी जानी थी) मिली प्राणदंड की सजा को बदलवा या कम नहीं करा सके थे। यह कराची कांग्रेस, जिसे मूलभूत अधिकारों और आर्थिक नीति के प्रस्तावों के लिए याद किया जाता है, के पूर्व संध्या की घटना है। जवाहरलाल नेहरु ने राष्ट्रीय भावनाओं को मुखर करते हुए कहा था: 'भगतसिंह का शव हमारे और इंग्लैण्ड के बीच बाधा बन कर उपस्थित रहेगा।"

गोल मेज कांफ्रेंस में भाग लेने के लिए कांग्रेस के एक मात्र प्रतिनिधि के रूप में गांधी की इंग्लैंड यात्रा असफल रही थी, क्योंकि मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यक वर्गों की समस्या का संतोषजनक हल नहीं हो पाया। आसफ अली ने इस पर कहा: "यदि गांधी जी ने गोलमेज वार्ता में सर मोहम्मद शमी के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया होता कि केन्द्रीय विधान सभा में मुसलमानों को 33 प्रतिशत स्थान मिलेगा तो यह समस्या वहीं सुलझ गई होती। सर मोहम्मद ने गांधी जी से कहा था कि अगर वह इस पर सहमत हों तो मुसलमान उनका नेतृत्व कबूल कर लेंगे, पर गांधी अपने अन्य सहयोगियों के मुकाबले में मालवीय से अधिक प्रभावित थे।"

अन्य अवसरों पर भी जब 1940 में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान, प्रस्ताव स्वीकार किया और 1946 में सांप्रदायिक दंगे बड़े पैमाने पर भड़क उठे, आसफ अली कहा करते थे कि हिंदू महासभा की जहनियत वाले लोगों से प्रभावित हुए बगैर अगर कांग्रेस चौथे दशक में मुस्लिम लीग के साथ उदारतापूर्वक पेश आती तो इन दुखद परिणामों से बचा जा सकता था।

गांधी 1932 में इंग्लैंड से यह उम्मीद लेकर लौटे कि वह सत्याग्रह के जरिए दबाव डालेंगे। पर नया वायसराय विलिंगटन, इरविन की भांति "मजहबपरस्त ईसाई" नहीं था। उसने उस दबाव में आने से इंकार कर दिया। कांग्रेस संगठन को गैर कानूनी करार दे दिया और गांधी जी को जेल में डाल दिया। अन्य कांग्रेसी नेता भी गिरफ़्तार कर लिए गए। इन दमनकारी उपायों और पुलिस की चौकसी के बावजूद श्रीमती नीली सेन गुप्ता की अध्यक्षता में चांदनी चौक में घंटाघर के नीचे कांग्रेस का एक अधिवेशन हुआ। सभी 500 सदस्य जो उस समय वहां उपस्थित थे, पुलिस द्वारा नजरबंद कर लिए गए। आसफ अली को दो माह की सजा दी गई। रिहा होने के ठीक बाद गांधीजी द्वारा संचालित व्यक्तिगत ढंग से सत्याग्रह आंदोलन में हिस्सा लेने की वजह से उन्हें फिर से गिरफ़्तार कर

लिया गया और भारत सुरक्षा कानून के तहत उन्हें एक वर्ष सश्रम कारावास की सजा दी गई। लेकिन आंदोलन, अवज्ञा के इन बहादुर कारनामों के बावजूद कमजोर पड़ता जा रहा था। इस बात के लक्षण दीखने लगे थे कि जनता के हृदय पर गांधी की पकड़ ढीली होती जा रही है। दुकानदार हड़तालों से तंग आ चुके थे, और किसानों का "लगान रोको अभियानों" से मोहभंग हो चुका था, "जो आर्थिक कारणों से नहीं बल्कि राजनीतिक तकाजों से चलाए जा रहे थे।" कांग्रेस पार्टी के कार्यकर्त्ताओं का मनोबल उन दिनों कितना गिर गया था इसकी एक तस्वीर एक गुप्त सरकारी रपट में मिलती है। किचलू ने बनारस और इलाहाबाद जाने का दौरा इस मतलब से किया था कि इन दोनों स्थानों में आंदोलन के हालात के बारे में स्वतः सूचनाएं प्राप्त करने के बाद ब्रितानी मंत्री की घोषणा पर बातचीत की जा सके और कार्यक्रम में तबदीली लाने के प्रश्न पर विचार किया जा सके। निश्चय यह किया गया था कि कार्य समिति द्वारा तैयार किए गए पुराने कार्यक्रम पर सख्ती से अमल किया जा सके पर सच्चाई यह थी कि मालवीय को सारे सूबे से जो सूचनाएं (रिपोर्ट) मिल रही थी वे कांग्रेस की दृष्टि से बहुत ही असंतोषजनक थी। सारे कार्यकर्त्ता जेल में थे और कोई भी उनकी जगह लेने के लिए आगे नहीं आ रहा था। धरना देने के लिए आदमी नहीं मिल रहे थे। सभी प्रदेश आर्थिक दृष्टि से अपने को कष्ट में पड़ा हुआ महसूस कर रहे थे। आंदोलन को जिंदा रखने में बहुत अधिक कठिनाइयां अनुभव की जा रही थीं। यद्यपि सभी ने छोटे स्तर पर इसे चलाए रखने की सहमति व्यक्त की। मद्रास की रिपोर्ट में टिप्पणी की गई थी कि 1930 की तुलना में इस बार काफी पहले ही उत्साह में कमी आ गई थी। बंबई के सांप्रदायिक दंगों की वजह से आंदोलन को भारी धक्का लगा था और स्थानीय नेता यह नहीं बता पा रहे थे कि वह कब इससे उबर पायेंगे। मालवीय, मोतीलाल नेहरु, काटजू और डी.पी. जुत्शी और संयुक्त प्रांत के अन्य नेताओं का मत था कि कर न देने का अभियान मद्धिम पड़ रहा था। उनके अपने शब्दों में ही कृपलानी की गिरफ़्तारी से तो इस आंदोलन की कमर ही टूट गई थी। किचलू यह टिप्पणी करते हुए सुने गए कि अच्छी रिपोर्ट आने की कोई उम्मीद नहीं रह गई है और "जब तक कांग्रेस में कार्यकर्त्ताओं, साधनों और आकर्षक कार्यक्रमों का अभाव होगा तब तक बदलाव लाने की कोशिश करना मूर्खता होगी वह इस आंदोलन को ही खत्म कर देगी।"

कुछ कांग्रेसियों ने स्वराज पार्टी को पुनरुज्जीवित करके बुद्धिजीवियों को प्रेरित करने की जरूरत महसूस की। गांधी को विधान सभा के भीतर और बाहर लड़ने के दो तरफा कार्यक्रम के लिए राजी किया गया। आसफ अली जो इस कार्य के लिए नितांत उपयुक्त थे, 1934 में संविधान सभा के सदस्य चुन लिए गए। बाद के 12 वर्षों में अपनी पार्टी के मुख्य सचेतक, महासचिव और उपनेता के रूप में वह विधानसभा के सरकारी सदस्यों को उनके अफसराना शिखरों से उतार कर जमीन पर लाते रहे। उन्हें यह अहसास कराते रहे कि वे कितने मूर्ख हैं। वह एक जिरहकर्ता की सी मुस्तैदी से उनके नाकों दम किए रहते थे। मजाल क्या कि कोई भी चीज एक भी युक्ति, एक भी रूप, एक भी लक्ष्य उनसे छूट जाए। 1934 और 1937 के बीच दिल्ली के अखबारों और मुद्रणालयों से मांगी तथा जब्त की गयी जमानतों की संख्या के बारे में संविधान सभा में जो जोरदार सवाल-जवाब हुआ उस पर जरा विचार करें।

आसफ अली : (क) क्या माननीय गृह सदस्य यह बताने की कृपा करेंगे कि पिछले तीन वर्षों

में अखबारों और मुद्रणालयों से कितनी ज़मानतें मंगायी गई।
(ख) इनमें से कितनी जमानतें जब्त की जा चुकी हैं।
(ग) क्या सरकार दिल्ली के अखबारों और मुद्रणालयों की जमानतें उसी तरह लौटाने के लिए तैयार है जैसे पड़ोसी राज्य: संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) में किया गया? अगर नहीं तो क्यों?
जे.ए. थोर्न: (क) 48. उन में से एक जमानत बाद में लौटा दी गई।
(ख) 2.
(ग) मैं इस बारे में पक्के तौर पर नहीं कह सकता कि "इन जमानतों" से माननीय सदस्य का अभिप्राय जमा की गई या जब्त की गई जमानतों में से किससे है। सरकार को उन परिस्थितियों की कोई जानकारी नहीं है जिससे पता चल सके कि उन जमानतों का आम तौर पर लौटाया जाना उचित है या नहीं।
आसफ अली: "जहां तक इन मामलों का संबंध है, उसमें क्या दिल्ली की परिस्थितियां पड़ोसी सूबों की साधारण परिस्थितियों से बहुत अधिक भिन्न हैं?
जे.ए.थोर्न: कोई विशेष पड़ोसी सूबा?"
आसफ अली: "संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश)
जे.ए. थोर्न: दिल्ली का शासन काफी दूर तक पड़ोस के दोनों सूबों पंजाब और संयुक्त सूबे के प्रशासन को प्रतिबिंबित करता है।
आसफ अली: इस हालत में, अगर संयुक्त प्रदेश इन जमानतों को वापस कर सकता है तो दिल्ली में ऐसा क्यों नहीं हो सकता?

इस प्रकार उन्होंने थोर्न को इस तरह घेर लिया कि उन्हें बचाव का कोई रास्ता ही नहीं सूझ रहा था और वह यह कहने के लिए मजबूर हो गए कि, "मैं नहीं सोचता कि मैं अपने दिए हुए जवाब में कुछ और जोड़ सकता हूं।"

वह जिस भी मुद्दे को उठाते थे उसका इतनी बारीकी से अध्ययन करते और उसे बड़ी खूबसूरती से पेश करते थे। यह दिल्ली प्रदेश में राजनीतिक बंदियों के विषय में मुख्य आयुक्त को लिखे गए उनके पत्र से प्रकट होता है:—

दिल्ली
30 जुलाई, 1938

प्रिय श्री जोंकिंस

प्रदेश कांग्रेस कमेटी ने मुझे आदेश दिया है कि मैं दिल्ली सूबे की कांग्रेसी गतिविधियों के विरुद्ध सरकार की तथाकथित दमनकारी नीति के प्रश्न को उठाऊं। मुझे जो विवरण दिया गया है और जो कांग्रेस अध्यक्ष को संबोधित वक्तव्य की एक प्रति है, से लगता है कि:

(1) 1818 के अधिनियम के अंतर्गत गिरफ़ार कुछ बंदी, काफी दिनों से जेल में पड़े हुए हैं। क्या मैं जान सकता हूं कि दिल्ली जेल में इस तरह के कितने बंदी हैं? वे कितने दिन से जेल में है? उन्हें किन कारणों से हिरासत में रखा गया है? उनके मामलों की समीक्षा पिछली बार कब की गयी

थी और किसने की थी? क्या सरकार उन्हें शीघ्र रिहा करने वालो है? अगर नहीं तो क्यों?

(2) पिछले 6 महीनों में 34 कांग्रेस कार्यकर्ताओं पर पंजाब फौजदारी कानून संशोधन अधिनियम के अंतर्गत मुकदमा चलाया गया। उनमें से लगभग 20 पर आरोप लगा कर जेल भेजा गया और बाकी या तो बाहर कर दिए गए हैं या उनको बोलने या अन्य शांतिपूर्ण राजनीतिक कार्रवाइयों से रोका गया है। अगर यह तथ्य और आंकड़ा सही है तो क्या मैं जान सकता हूं कि वे किस अर्थ में अहिंसक राजनीतिक गतिविधियों से भिन्न हैं? और अगर उन्होंने भाषणों द्वारा कानून की सीमा का उल्लंघन किया है तो दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 108 या भारतीय फौजदारी कानून की धारा 124 या किसी अन्य साधारण कानून की उपयुक्त व्यवस्था के तहत मुकदमा क्यों नहीं चलाया गया?

(3) शायद किसी मजदूर हड़ताल के संबंध में 33 मजदूरों पर दंड संहिता की विभिन्न व्यवस्थाओं के तहत मुकदमें चलाए गए हैं। क्या उन्होंने कोई ऐसा काम किया है जिससे हिंसा सिद्ध की जा सके?

(4) 21 कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं पर जिसमें स्थानीय कांग्रेस के पदाधिकारी भी शामिल हैं, लगातार निगरानी रखी जा रही है। प्रत्यक्ष रूप से लगातार उनका पीछा किया जाता है। क्या मैं जान सकता हूं कि उन पर किस प्रकार का संदेह है और उनका पीछा करना क्यों जरूरी है?

जो प्रति मुझे दी गई है वह मैं इसके साथ लगा रहा हूं। मुझे यह जोड़ने की आवश्यकता नहीं है कि मैं इन प्रश्नों को और विशेषकर 22 जुलाई 1938 की हड़ताल के सिलसिले में हुई 69 गिरफ़्तारियों, और शांतिपूर्ण ढंग से धरना देने वालों और दर्शकों में से 60 के ऊपर लगाये गये आरोपों, के प्रश्न को मैं संविधान सभा में उठाने जा रहा हूं।

लेकिन ऐसा करने से पहले मैं सरकारी पक्ष से भी वाजिब बातों को दरयाफ़ कर लेना अपना सार्वजनिक दायित्व मानता हूं। दूसरे किसी स्रोत से अपेक्षित सूचना न मिले तो बात ही और है। अन्यथा तारांकित प्रश्नों में मुझे बहुत यकीन नहीं है। आपने मेरे अनुरोध पर योगेश चटर्जी को जितनी जल्दी छोड़ दिया उसी से मुझे आप से यह सवाल सीधे करने का हौसला हुआ है। मैं स्थगन प्रस्ताव को एक अप्रिय काम समझता हूं जिसकी नौबत आपात स्थिति में ही आनी चाहिए पर मुझे जो तथ्य और आंकड़े दिये गये हैं और दिल्ली के राजनैतिक हल्कों में जो धारणा बनी हुई है उसने इस मामले में मेरे पास कोई अन्य विकल्प नहीं छोड़ा है।

शायद मैं यहां एक व्यक्तिगत टिप्पणी जोड़ना चाहूंगा। मेरी अपनी खासियत यह है कि मैं दिल्ली के राजनैतिक इतिहास से एक चौथाई शताब्दी से गहराई से जुड़ा रहा हूं। मेरी अपनी व्यक्तिगत धारणा यह है कि सूबे की पुलिस कुछ दुर्भाग्यपूर्ण परंपराओं को आत्मसात किए हुए हैं, जिसमें ऐसी शांतिपूर्ण कार्रवाइयों में भी दखल देने का अस्वस्थ उत्साह शामिल है, जो उनकी दृष्टि में दकियानूसी संवैधानिक कार्रवाइयों से अलग लगती है।

साथ ही उनकी ऐसे समय घटनास्थल पर आ जाने से उनके द्वारा भीड़ को तितर-बितर करने का तरीका दकियानूसी संवैधानिक निष्क्रियता का ही परिचय देता है।

केवल जनमत की अभिव्यक्ति से चाहे वह कितने ही बड़े पैमाने पर क्यों न हो, कोई खास नतीजा नहीं निकल सकता, सिवाय उन स्थितियों के जिनमें लोगों को किसी विशेष स्थानीय दिक्कत के कारण

इतना परेशान न हो जाना पड़े कि वे मामूली से उकसाने पर भी काबू से बाहर हो जाएं। परंतु पुलिस सामान्य समय में भी सरकार से लोगों को गिरफ़्तार करने या क्षेत्र से बहिष्कृत करने या ऐसे ही दूसरे दमनकारी प्रयास में जो आदेश प्राप्त कर लेती है, उससे राजनीतिक संगठनों में उत्तेजना भड़क उठती है और इस प्रकार के प्रयासों में होने वाली प्रत्येक वृद्धि से कटुता और बढ़ती ही जाती है।

अपना उत्तरदायित्व समझने वाला कोई भी कांग्रेसी कभी भी अपनी नागरिक स्वतंत्रता को मनमानी करने की छूट नहीं मान सकता और अगर वह ऐसा करता है तो सीधा रास्ता है कि उसके खिलाफ़ खुला मुकदमा चलाया जाए, लेकिन पुराने या निरर्थक पड़ गए फौजदारी संशोधन विधेयक जैसे कानूनों का सहारा लेने का तरीका बहुत भौंडा है और लोग इससे बहुत नाराज होते हैं। मेरा अपना ख्याल है कि दोषारोपण वाले मुकदमों में लोगों को बिना मुकदमा चलाए बंदी बनाने या रोक रखने के आदेश प्राप्त करने के अप्रत्यक्ष तरीकों की तुलना में लोग खुली सुनवाई को अधिक पसंद करते हैं और यह चाहते हैं कि बिना सुनवाई के नजरबंदी में रखने या प्रतिबंध के आदेश पर उनका कसूर साबित किया जाये।

फिलहाल, ये मेरे अपने व्यक्तिगत विचार हैं लेकिन मुझे इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं कि यदि हिंसा का कोई प्रमाण मिलता है—चाहे वह भाषण में हो या कार्य में—तो कांग्रेस खुद भी इसके विरुद्ध कार्रवाई करने में नहीं हिचकेगी और हिंसा की पैरवी तो कदापि नहीं करेगी। जहां तक भाषण में प्रखरता या निहायत चौंकाने वाले विचारों का प्रश्न है, जब तक वे हिंसा के अंतर्गत नहीं आते तब तक कांग्रेस भाषण, संगठन बनानें और आवागमन की स्वतंत्रता का दावा करती है और यह पूर्ण रूप से उचित और न्याय संगत भी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस मामले में सबसे अधिक शिकायतें अगर कहीं से आती हैं तो वे ग्रामीण क्षेत्रों से कांग्रेसियों की संगठनात्मक कार्रवाइयों से संबंधित होती है। मुझे तो ऐसा लगता है कि खुफिया पुलिस एजेंट या अत्यधिक बेताब पुलिस और राजस्व अधिकारी वस्तुस्थिति के तथ्यों को अधिक बढ़ा-चढ़ा कर प्रतिबंधात्मक आदेशों को व्यापक रूप में इस्तेमाल करने के लिए उत्तरदायी हैं।

आसफ अली संविधान सभा के अंदर और बाहर संघर्ष की दुतरफा योजना में जोड़-तोड़ करने वाले एक ऐसे व्यूह कुशल व्यक्ति के रूप में इस तरह उभर कर आए कि स्वराज पार्टी यह सोचने लगी कि 1931 के ग्रीष्म में राजनीतिक उदासीनता का जो दौर आया था उसे वह उतार फेंकेगी, संविधान सभा में उनका मज़ाकिया गंभीर स्वर—"हुक्म में कहा गया है कि वे किसी भी जुलूस या सभा में हिस्सा नहीं लेंगे..." इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि किसी शव यात्रा या विवाह समारोह में भी नहीं? उनका इस तरह का वक्तव्य गृह सदस्य के संतुलन को गड़बड़ कर देता था। अखबारों में स्थानीय शासन की उनकी निंदा,—"ऐसे वक्त में जब दूसरे सूबों में जनता के प्रतिनिधि शासन संभाले हुए हैं, दिल्ली के अनोखे ईश्वर उस नीति का अनुसरण कर रहें हैं जिसके द्वारा जन कार्यकर्त्ताओं पर थोथे आरोप लगा कर मुकदमे चलाए जाते हैं। उन्हें हिरासत में लिया और बाहर निकाला जाता है", से मुख्य पुलिस आयुक्त कई बार बड़े परेशानी में पड़े। जोंकिस ने पकल को लिखा, "दिल्ली सूबे की कांग्रेस समिति ने जो प्रस्ताव पास किया था उसके बारे में आपने मुझे उस दिन टेलीफोन पर बताया था? मैं सोचता हूं कि इसकी प्रेरणा आसफ अली ने दी होगी। जो यह

महसूस करते हैं कि गवर्नर शासित एक प्रदेश में उन्हें अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाने का अधिक अवसर मिलेगा,''। ''टोटेनहेम ने लिखा;'' ''वह खतरनाक आदमी नहीं है। वह परेशान कर सकता है।''

दिल्ली नगर पालिका के एक सदस्य के रूप में आसफ अली ने उस में सुधार लाने के लिए कठिन प्रयास किए। जब स्थानीय शासन ने शहर में ''सुधार'' लाने के लिए सड़क और इमारतें बनाने के उद्देश्य से दरियागंज के किनारे की दीवार गिरानी शुरू की तो आसफ अली को ऐसी चोट लगी, मानो इतिहास का एक अंश खत्म किया जा रहा हो। इसे रोकने के लिए उन्होंने एक सत्याग्रह करने का आयोजन किया जिसमें उन्हें एक अवधि के लिए जेल जाना पड़ा, लेकिन इस प्रकार उन्होंने बाकी दीवार को गिरने से बचा लिया।

जब लाला श्यामनाथ शहर के महापौर बने तो इस ऐतिहासिक दीवार को बचाने के लिए कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए उनकी याद में दिल्ली गेट के पश्चिम वाले हिस्से की सड़क का नाम ''आसफ अली मार्ग'' रखा गया। दिल्ली के प्रति आसफ अली का गहरा लगाव था और इसकी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण के लिए नागरिकों ने भी उन्हें उचित सम्मान दिया। 1953 में उनकी मृत्यु हुई। इस खबर पर शहर में तीन दिनों का शोक मनाया गया और उनकी स्मृति के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए सारी दुकानें भी बंद कर दी गईं।

प्रमुख फौज़दारी वकील के रूप में, आसफ अली ने दिल्ली के अतिरिक्त कराची तथा अन्य केंद्रों के कुछ प्रमुख मामले भी लिए। वकील के रूप में उन्होंने अपनी बुद्धि कौशल का परिचय अदालतों में ही नहीं वरन् जेल की दीवारों में कैद उन अभियुक्तों को बचाने में भी किया जिनको यह नहीं पता था कि उन्हें जो सजा मिली है, उसमें उन्हें माफी भी मिल सकती है। जो लोग यह फायदा उठा सके थे, उनमें लाहौर जेल में सजा भुगत रही जैनब का नाम आता है। इसी जेल में अरुणा एक राजनीतिक कैदी के रूप में कैद थी और आसफ भी इसी शहर में पुरुष कैदियों में रखे गए थे। जैनब के छूटने की खबर से महिलाओं के जेल में उनके साथ ही अन्य महिला कैदियों में आशा की किरण जगी और वे सब झुंड में अरुणा के पास आईं और उनसे याचना की कि वह अपने पति से उन्हें भी मदद करने की सिफारिश कर दें।

1940 में गांधी द्वारा प्रेरित व्यक्तिगत सत्याग्रह में स्वेच्छा से अपने को प्रस्तुत करने वालों में आसफ अली पहले व्यक्ति थे। अपनी गिरफ़्तारी के ठीक पहले गांधी मैदान में दिये अपने भाषण में उन्होंने हिंदू मुसलमान एकता पर बल दिया और अपने श्रोताओं को शांतिपूर्ण तरीकों के इस्तेमाल तथा अहिंसा पर अमल करने की सीख दी। हालांकि वह गांधी के सभी विचारों और तरीकों को नहीं मानते थे पर मुस्लिम लीग की प्रतिक्रियावादी विचारधारा उनके लिए बेकार थी। जिन्ना के बारे में उनका कहना था कि वह कांग्रेस को ''मुसलमानों का दुश्मन'' मानते थे और ''कांग्रेस को हिंदुओं का एक संगठन — जिसका अर्थ था कि हिंदू मुसलमानों के दुश्मन हैं। उनके इस कथन पर आसफ अली का कहना था कि एक सहजाति से समझौता करने में निश्चय ही इस तरह का रवैया नहीं अपनाना चाहिए।

द्वितीय विश्व युद्ध में तेजी आने के साथ कांग्रेस के नेताओं में इस बात को लेकर मतभेद हुआ कि इस विषय में क्या नीति अपनाई जाए। युद्ध प्रस्ताव पर गांधी जी और कार्यसमिति के कई सदस्यों

में झड़प हुई गांधी अहिंसा पर जोर देते रहे। आसफ अली ने भूलाभाई देसाई को लिखा: "गांधी जी अपने निश्चय पर दृढ़ हैं। हममें से कुछ, जिनमें मौलाना और पंत भी शामिल थे, कुछ सुझावों पर टीका टिप्पणी कर रहे थे...यहां तक कि जवाहर का भी रुख आलोचनात्मक था।"

और फिर उन्होंने जोड़ा: "मेरी जिंदगी के यह 3, 4 हफ्ते बड़ी उदासीनता के थे। घुटन, कुंठा और असहायता की भावना से ग्रस्त, अंग्रेजी हुकूमत ने हमें नीचा दिखाया है और अब हर पार्टी एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश में है। संक्षेप में कहूं तो मुझे चारों और आफत ही आफत दिखाई दे रही है...अंग्रेज शेखी बघार सकते हैं, लेकिन डींग हांकने से उन्हें कोई लाभ नहीं होगा। हम लोग आदर्शवादी ढंग से बातें कर सकते हैं लेकिन आफत टल नहीं सकती। अंग्रेजों को अपनी हेकड़ी खत्म करनी होगी और हमें अधिक यथार्थवादी होना पड़ेगा और तभी ऐसा कुछ किया जा सकेगा जिससे इस स्थिति से उबरा जा सकता है। मुझे तो ऐसा ही लग रहा है। लीग की जिद ने मुझे क्षुब्ध कर दिया है...लेकिन हमें कोई न कोई रास्ता निकालना होगा। अंग्रेज सबसे ज्यादा असहयोगी साबित हो रहे हैं, लेकिन हमें उन्हें होश में लाना होगा। यह सारा मसला न तो लीग का है न ही अंग्रेजों का, वरन् हमारा है।"

1942 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी अंग्रेजों के 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के आह्वान पर आसफ अली फिर से जेल में डाल दिए गए। इस बार 4 वर्ष के लिए। पहले वह अहमदनगर किले में नजरबंद रहे बाद में पंजाब में गुरुदासपुर जेल में। जवाहरलाल नेहरू भी अहमदनगर जेल में रखे गए थे और यह पहला अवसर था जब दोनों काफी समय तक साथ रहे। उन दोनों के बीच एक बौद्धिक रिश्ता सा कायम हो गया।

1944 के दौरान जब नेहरू जेल में थे उन्होंने "डिस्कवरी ऑफ इंडिया" लिखी, पुस्तक की प्रस्तावना में कहते हैं कि अहमदनगर किले के उनके जो 11 सहयोगी थे, वे भारत के विभिन्न तबकों के बड़े दिलचस्प नमूने थे और वे अपने विविध रूपों में केवल राजनीति ही नहीं वरन् भारत के पुराने और नये पांडित्य को भी प्रस्तुत करते थे...यद्यपि मैं अपने सभी सहचरों का आभारी हूं लेकिन मैं मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, जिनके विशुद्ध ज्ञान से मुझे हर बार आनंद तो मिलता ही था, कभी-कभी तो वह मुझे अभिभूत कर देते थे और गोविंद वल्लभ पंत, नरेंद्र देव और आसफ अली का मैं विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूंगा।

आसफ अली नेहरू परिवार के कई सदस्यों से निकट रूप से परिचित थे। बड़े नेहरू मोतीलाल जो एक विख्यात वकील थे और जिनको आसफ अली अपना आदर्श मानते थे, ब्रजलाल नेहरू और उनकी पत्नी रामेश्वरी, बी.के. नेहरू के माता पिता, इलाहाबाद के लाड़ली मोहन जुत्शी, जिनकी लड़की मनमोहिनी सहगल दिल्ली की एक प्रमुख कांग्रेसी महिला बनीं। सर कैलाश नाथ हक्सर जो ग्वालियर के दीवान थे; उमा नेहरू और उनके पति श्यामलाल यह दोनों स्वतंत्रता सेनानी थे और युवा इंदिरा को भी तथा जवाहरलाल नेहरू की बहन विजय लक्ष्मी पंडित और कृष्णा हत्थी सिंह।

आसफ अली के सर्वग्राही क्षेत्र के दोस्तों में शाहेद सुहरावर्दी, लेखक जिसके भाई बंगाल के मुख्यमंत्री बने; सैयद हुसैन जो तीसरे दशक के आरंभ में स्वतंत्र भारत के संपादक रहे, प्रोफेसर हुसैन अली खां, जो उस्मानिया विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष थे; और ख्वाजा अताउल्ला जो जाने-माने बैरिस्टर थे।

राजनैतिक धक्का

मोपला विद्रोह और चौरी-चौरा स्टेशन में आग लगाने की घटना से, जिसमें पुलिस स्टेशन के अंदर के पुलिस वाले मारे गए। 1922 में नागरिक अवज्ञा आंदोलन स्थापित कर दिया गया। और इस तरह 1921 के अंत तक गांधी ने स्वराज लाने के वायदे और "आर्थिक राष्ट्रवाद" की चर्चा से जो उत्साह पैदा किया था उसे धक्का लगा। महत्वपूर्ण कांग्रेसियों के बीच एक व्यापक असंतोष पैदा हो गया और गांधी के नेतृत्व पर आपत्ति की जाने लगी। मोतीलाल और लाजपतराय ने जेल से असहमति के पत्र लिखे और सूबों में व्यक्तिगत नागरिक अवज्ञा के लिए बंगाल और बंबई के नेताओं ने अपने अपने प्रांत में जोर डाला। महात्मा गांधी ने भूख हड़ताल कर दी। 1918 के बाद यह उनकी दूसरी भूख हड़ताल थी।

गांधी के अनशन का विश्लेषण करते हुए गृह विभाग की एक रिपोर्ट में कहा गया था कि उनके नेतृत्व पर जब-जब प्रश्न उठाए गए, उन्होंने अनशन का सहारा लिया। 4 नवंबर को कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक हुई और उसमें हर सूबे को यह अधिकार दिए गए कि वह अपने अधिकार से व्यक्तिगत व सामूहिक नागरिक अवज्ञा चलाए। वास्तव में कार्य समिति नागरिक अवज्ञा देश व्यापी स्तर पर विस्तृत ढंग से तुरंत चलाना चाहती थी, लेकिन गांधी ने जोर डाल कर यह अनुमति ली कि वह सबसे पहले गुजरात में 23 नवंबर से यह आंदोलन शुरू करेंगे। जब बंबई के दंगे हुए तो गांधी ने घोषणा की कि "मैं व्यक्तिगत ढंग से और सोच-विचार के बाद इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि अभी नागरिक अवज्ञा आंदोलन नहीं चलाया जा सकता। बंबई के दंगों से कार्यसमिति की जल्द से जल्द बैठक करना अनिवार्य हो गया और यह बैठक 23 नवंबर को बुलायी गयी।

गांधी को इस बात की घोषणा करनी ही थी कि "31 दिसंबर 1921 तक स्वराज प्राप्त करना संभव नहीं होगा।" और उनके सामने इस बात की संभावना नजर आ रही थी कि कार्य समिति में उन्हें उस दल के विरोध का सामना करना पड़ेगा जो वायदे की अवधि के भीतर स्वराज पाने की असफलता से असंतुष्ट होकर हिंसा का तरीका अपनाने को इच्छुक था। उनके अनशन से सहानुभूति प्राप्त करने और दिलचस्पी पैदा करने का इससे अधिक उपयुक्त कोई अन्य अवसर नहीं हो सकता था।

इसके बाद भी अनेक बार अपनी 'अंतरात्मा की पुकार' में गांधी जी की आस्था ने स्वतंत्रता संग्राम में जनता के उत्साह पर अंकुश लगाया। जयप्रकाश नारायण ने बाद में 1942 के "भारत छोड़ो" आंदोलन पर टिप्पणी की थी: "मुझे इसलिए कटुता अनुभव हो रही है क्योंकि मैं महसूस

कर रहा हूं कि हमें बुरी तरह नीचा दिखाया गया है — मुझे व्यक्तिगत रूप से नहीं देखना पड़ा है क्योंकि मैं तो हिंसा की वकालत करता रहा हूं। और इसलिए असफलता की स्थिति में कठोर सेंसर और निर्वासन के लिए तैयार रहा हूं। लेकिन हजारों नहीं, लाखों भारतीय देशभक्तों को नीचा देखना पड़ा है। 8 अगस्त 1942 के बाद जो कुछ हुआ वह हिंसा नहीं थी। उन हलचल भरी घटनाओं का बहुत बड़ा हिस्सा अहिंसात्मक जन प्रदर्शन था। प्रखर, ओजस्वी, तूफानी, या ऐसा कुछ भी 1921, 30 या 32 में नहीं हुआ था... लेकिन गांधी जी ने लोगों के संघर्ष को अस्वीकृत कर दिया सिर्फ इसलिए नहीं कि वह हिंसा की वजह से कलंकित हो चुका था, बल्कि इसलिए कि कांग्रेस ने कभी भी जन संघर्ष शुरू नहीं किया था। इस संभावना की अपेक्षा भी कदापि नहीं की जा सकती थी कि सारे रस्मी तामझाम के बाद विधिवत शुरू किया गया कांग्रेसी संघर्ष भी किसी न किसी चरण पर हिंसा से कलंकित हो सकता है लेकिन इस प्रकार का दूषण और अशुद्धता पूरे आंदोलन को एक कांग्रेस अभियान से भीड़ के विद्रोह में नहीं बदल सकते। हिंसा की निंदा की जा सकती है। लेकिन पूरे संघर्ष की निंदा नहीं की जा सकती।

1922 में नागरिक अवज्ञा आंदोलन को रोके जाने के बाद कांग्रेस में विभाजन हो गया। इसमें एक ओर तो स्वराजी थे जिनका नेतृत्व मोतीलाल नेहरू और सी.आर.दास कर रहे थे और दूसरी ओर गांधी के नेतृत्व वाले "अपरिवर्तनवादी"। 1923 सितंबर माह के कांग्रेस के एक विशेष अधिवेशन में स्वराजियों ने विधान मंडल में घुसने और संवैधानिक रुप से सरकार के लिए गतिरोध पैदा करने की अपनी नीति की वजह से अधिकांश कांग्रेसियों को अपने पक्ष में कर लिया।

सी.आर.दास. ने घोषणा की कि वह नौकरशाही के खिलाफ अंदर और बाहर दोनों तरह से असहयोग चलाने जा रहे हैं।

नागरिक अवज्ञा आंदोलन को जिस प्रकार रोका गया था उससे आसफ अली बहुत हताश हुए थे। ठीक उसी समय जब वह महसूस कर रहे थे कि अब वर्षों की मेहनत का फल मिलने वाला है। गांधी ने रोक लगा दी और आंदोलन स्थगित कर दिया। गुरुदासपुर जेल में अपनी नजरबंदी के दौरान 1945 में उन्होंने अपने कैदी साथियों से बातचीत में कहा कि "स्वराज पार्टी के दिनों से ही उनके गांधी से मतभेद थे।" उनकी यह बातचीत जेल वार्डेन ने सावधानीपूर्वक रिकार्ड की थी, यद्यपि वह गांधी के बड़े प्रशंसक थे। लेकिन उन अधिकांश "अपरिवर्तनवादियों" से एक भिन्न ख्यालों के व्यक्ति थे जिनकी मूक भक्तिभावना से वह क्षुब्ध अनुभव कर रहे थे। एक ऐसे मौके पर जब इतना कुछ दांव पर रखा जा चुका था, हिंसा, अहिंसा के सवाल को लेकर गांधी की मनोग्रस्तता से उन्हें खीझ हो रही थी। वर्षों बाद मई 1942 में भूलाभाई देसाई को एक पत्र लिखते हुए उन्होंने कहा: "लगातार हिंसा और अहिंसा के सवाल पर चलता रहने वाला विवाद मेरी सहनशक्ति के बाहर है।"

आसफ अली की राजनीतिक महत्वाकांक्षा को धक्का लगा था लेकिन सुखद बात यह है कि अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं के आहत होने के ठीक विपरीत उनकी साहित्यिक गतिविधियां चल रही थीं। वह चाहे जेल के अंदर हो या बाहर उन्होंने कभी भी लिखना बंद नहीं किया। कहानियां, कविताएं, आलोचनात्मक लेख और अनुवाद (टैगोर का "किंग आफ द डार्क पैगम्बर") उसमें शामिल है, उनकी कलम से प्रभावित होते रहे हैं। यदि कविताओं में उर्दू काव्य परंपरा के अनुसार

भाषा रम्य शब्द विन्यासमयी होती थी तो हास्य निबंधों और "दिल्ली की सदाओं" को जैसे निपट विवरण काव्य निबंधों की शैली बिल्कुल अलग थी। अपने पत्रों में वह अपने सर्वोत्तम रुप में प्रकट होते हैं—अपने परिवार के सदस्यों, अपनी हांजमें की शिकायतों, व एकाकीपन को लेकर पैने, चुटीले, बेबाक, करुण और नितांत मानवीय।

यदि आसफ अली के परिवार ने उनके पत्रों को बचा कर रखने की सावधानी बरती होती तो उनकी ख्याति अपने पत्रों के बल पर ही कायम रह सकती थी।

स्वतंत्रता की बलवती आकांक्षा अवरुद्ध हो गई थी। और जगह-जगह साम्प्रदायिक दंगे भड़क रहे थे। दिल्ली गुलबर्गा, नागपुर, लखनऊ और इलाहाबाद के दंगों के बाद कोहाट में साम्प्रदायिक आक्रोश ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया। आत्मशुद्धि के लिए गांधी 21 दिन के अनशन पर बैठने को मजबूर हुए। उनके अनशन से बड़ी संख्या में लोगों के मन में उनके प्रति सद्भावना पैदा हुई और लोग उनकी तरफ ध्यान देने लगे। आसफ अली ने साम्प्रदायिक दंगों की इस असाध्य समस्या का हल ढूंढने के लिए सभी संप्रदायों के प्रतिनिधियों की एक सभा बुलाई। मोतीलाल नेहरु के सभापतित्व में एकता सम्मेलन किया गया जिसमें दोनों संप्रदायों के आपसी हितों के टकराव को सुलझाने के लिए एक अखिल भारतीय पंचायत कायम की गई जिसके अध्यक्ष गांधी जी बनाए गए। आसफ अली लिखते हैं कि यह पहला मौका था जब सभी धर्मों के बुद्धिजीवी, नेता सांप्रदायिकता की स्थिति को सुधारने के लिए राजी हुए हैं।

आखिर 4 वर्ष आसफ अली के लिए भौतिक अर्थों में सुखद नहीं रहे। प्रथम बड़े असहयोग आंदोलन की उत्तेजना में उन्होंने अपनी वह फौजदारी की वकालत छोड़ दी थी जो फौजदारी वकील के रूप में उनकी दक्षता को देखते हुए उनके लिए लाभकारी भी थी। इन वर्षों में उन्होंने अपनी "जायदाद का एक बड़ा हिस्सा" बेच दिया था स्थिति अब बदल गई थी। वे हाथ, जिन्होंने एक बड़े आंदोलन को संभाला था, अधिक बलिदान नहीं खझेल सकते थे और आसफ अली ने अपना कानूनी पेशा फिर से शुरू कर दिया। वह बहुत थक गये थे। उन्होंने कड़ी मेहनत की थी और थोड़ा सा विश्राम मिलने के बाद आग भी कर सकते थे। अब्दुल कलाम आजाद, जो उनके एक घनिष्ट मित्र और सहकर्मी थे और उनकी साहित्यिक और सांस्कृतिक दिलचस्पियों में भागीदार भी थे, उन्होंने आसफ को इंग्लैंड हो आने का सुझाव दिया। आसफ अली ने पासपोर्ट के लिए आवेदन दे दिया। दिल्ली के मुख्य आयुक्त ई.आर.एबट ने गृह विभाग के सचिव को सूचित किया। "मैंने आज 2167 नं. का एक पासपोर्ट दिल्ली के बैरिस्टर श्री आसफ अली के नाम जो मिस्र, इटली, स्विटरजरलैंड और फ्रांस होते हुए इंग्लैंड जा रहे हैं जारी किया है। दिल्ली के बैरिस्टर—पत्रकार आसफ अली ने स्थानीय राजनीति क्षेत्र में काफी नाम कमाया है कहते है, उनकी इंग्लैड की यात्रा का खर्च उनके साथ जा रहे अब्दुल कलाम आजाद उठा रहे हैं।" अंततः यह यात्रा हो नहीं पाई। एबट की ही तरह उनके बाद आने वाले मुख्य आयुक्त भी आसफ अली के राजनीतिक प्रहारों और दिल्ली में उन्हें "खुराफात" पैदा करने की शक्ति का जिक्र करते रहे। मुख्य आयुक्त एसक्विथ दिल्ली के कांग्रेसियों की बीच 11 मई 1945 को आसफ अली की रिहाई के बारे में अपने एतराज जाहिर कर रहे थे। उनके अनुसार, "आसफ अली सबसे प्रमुख संगठनकर्त्ता हैं और उनकी रिहाई का जब भी हुक्म दिया जाएगा, उसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि "कांग्रेस के संघर्ष में फिर से बहुत अधिक जान आ जाएगी।

आसफ अली काम में जुट गए और 1928 में साइमन कमीशन के आने से उनकी संगठन क्षमता के उपयोग का उन्हें दुसरा अवसर प्राप्त हुआ। शिक्षित भारतीयों, जिसमें नरमपंथी शामिल थे—जैसे तेज बहादुर सप्रु, ने कमीशन को संदेह की निगाह से देखा और सहयोग न देने का निर्णय किया। राजनीतिक नेताओं ने लोगों को कमीशन का बहिष्कार करने का आह्वान किया। हिंदु और मुसलमान अंग्रजों का विरोध करने के लिए फिर से इकट्ठे हो गए। दिल्ली में दोनों संप्रदायों के लोगों ने कमीशन के सदस्यों को रेलवे स्टेशन से होटल जाते हुए काले झंडे दिखाए। यह 29 अगस्त 1928 का दिन था। यहां से स्वतंत्रता संघर्ष के दूसरे दौर की शुरूआत होती है। इस बहिष्कार के फलस्वरुप एक और तो सरकार का दमन चक्र आरंभ हुआ और दूसरी और नेहरू रिपोर्ट का प्रकाशन हुआ जिसमें पहले के डोमिनियन स्टेट्स (ब्रिटेन के अधीन स्वायत्तता) की पुरानी मांग के विपरीत स्वतंत्रता की मांग रखी गई थी। कलकत्ता में हुए कांग्रेस के दिसंबर अधिवेशन में युवा नेताओं ने जिसमें आसफ अली और सुभाष बोस शामिल थे, गांधी की फूंक-फूंक कर चलने वाली नीति के विरुद्ध जवाहर लाल नेहरू का साथ दिया।

पत्र

अपने आखिरी और लंबी अवधि के कारावास के समय आसफ को अपने बिगड़ते हुए स्वास्थ्य से भी अधिक चिंता और खिन्नता इस बात को लेकर थी कि उनकी पत्नी अरुणा एक भिन्न, एक क्रांतिकारी मार्ग पर उसकी सारी कठिनाइयों और खतरों को झेलती हुई आगे बढ़ रही थी। 1940 के व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन में आसफ अली की नजरबंदी के 3 माह के अंदर ही अरुणा तिराहा बैरम खान पर सत्याग्रह करते हुए गिरफ़्तार कर ली गई। लेकिन शीघ्र ही वह गांधी की अहिंसावादी पद्धति को छोड़कर राष्ट्रवाद के एक अधिक आक्रामक रूप से प्रभावित हो गई जिसमें हिंसा, तोड़-फोड़ और हथियारों का प्रयोग भी शामिल था। जब कांग्रेस ने "भारत छोड़ो" की मांग की तो वह फरार हो गई, और शीघ्र ही अंग्रेज विरोधी क्रांति (जिसे अब 1942 का आंदोलन कहा जाता है) की एक नायाब हस्ती बन गयी। अरुणा का चार साल तक न तो सुराग ही लगाया जा सका न ही उन्हें गिरफ़्तार किया जा सका। 1946 में जब उनका वारंट खारिज कर दिया गया तभी जाकर वह सामने आई।

आसफ अली को उनके लिए गहरी चिंता लगी रहती थी। वह सच्चे मन से चाहते थे कि अरुणा संकट से भरी हुई फरारी की जिंदगी छोड़ दें और आत्म-समर्पण करके जेल की सुरक्षित दीवारों में कैद हो जायें। बहुत सारे पत्र दरअसल लिखे तो अरुणा को ही गये थे लेकिन संबोधित थे या तो उनके भाई प्रभात गांगुली को जो दिल्ली में एक कर्मचारी थे या असली या नकली भतीजियों को। ये भतीजियां जानती थीं कि अरुणा कहां हैं और उन पर यह यकीन था कि वे आसफ के पत्रों को अरुणा तक पहुंचा देंगी।

इन पत्रों में उन्होंने बार बार "रीनी" (अरुणा) के बारे में अपनी बेचैनी प्रगट की है। "तुम्हारी रीनी दी के जीवन के बारे में मुझे लगातार और गहरी चिंता..." तुम्हारी मौसी रीनी के बारे में मेरी गहरी चिंता..." नीचे 26 फरवरी 1943 को प्रभात गांगुली को लिखे गए एक पत्र के कुछ अंश दिए जा रहे हैं जिसमें अहिंसा में अरुणा की आस्था की पुष्टि सेंसर के लिए तो है ही साथ ही अरुणा को समझा-बुझा कर गांधीवादी मार्ग पर लाने के प्रयत्न के रूप में अरुणा के लिए भी है।

तुमने अर्द्ध सरकारी दायरों में जो कुछ रीनी के बारे में सुना है उस का उल्लेख किया है। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि यह पूर्ण रूप से गलत होना चाहिए। यद्यपि इससे यह हकीकत नहीं बदल जाती कि उस पर शक किया जाने लगा है। तुम अपनी बहन को जानते हो और एक व्यक्ति के रूप में मैंने उसके मस्तिष्क का निरीक्षण किया है। उसके विकास में मदद दी है। मैं दिल से जानता हूं कि

रीनी जानबूझ कर अपने को कभी भी ऐसे व्यक्तियों या आंदोलन से नहीं जोड़ेगी जो पूर्ण रूप से अहिंसावादी और गांधी के ख्यालों के अनुरूप न हो। एक वचनबद्ध कांग्रेसी का अहिंसक कार्रवाइयों से उसके जुड़े होने की कल्पना तो कर सकता हूं लेकिन और सब कुछ असंभव है।

ईश्वर जानता है कि उसको खोज निकालने के पीछे मैं क्यों अपनी जान दिये दे रहा हूं। चाहता हूं उससे किसी तरह संबंध स्थापित हो तो जितनी जल्दी हो सके उससे अपने आप आत्मसमर्पण करके जेल चले जाने के लिए मैं उसकी मिन्नतें करूंगा। मैंने यही बात उसे भी लिखी है और उसे बताया है कि मौलाना भी मुझसे सहमत हैं। वे मेरे पत्रों को उस तक पहुंचा देते हैं या नहीं मैं नहीं कह सकता। (यह शुरू के दिनों की बात है) पिछले अक्तूबर में मुझे बताया गया था कि उसे आत्मसमर्पण करने के लिए उसके मित्र उकसा रहे हैं और उसके बहानें यह सोचने के लिए मजबूर होना पड़ता है कि अब आत्मसमर्पण करने पर लगेगा कि ऐसा जायदाद बचाने के लिए किया गया है लेकिन मैंने फिर उसे आत्मसमर्पण करने का सुझाव देते हुए लिखा...या तो उसे मेरे पत्र मिले ही नहीं या फिर वह मेरी सलाह बहुत हलके ढंग से ले रही है। कहने की जरूरत नहीं कि रीनी मेरा जीवन है, आत्मा है, हां मेरा पूरा जीवन और आत्मा है। मैं उसकी उन भयंकर असुविधाओं की कल्पना कर सकता हूं जिसे उसने निष्कासन के दौरान भोगा होगा और भोग रही है। इसी वजह से मुझे एक क्षण के लिए भी आराम नहीं मिला। अगर वह जेल में होती तो मैं प्रसन्नता अनुभव करता। यह मेरे ख्याल में भी नहीं आ सकता है कि उसे जरा-सी भी असुविधा हो।

जो भी हो मैं अपनी आत्मा से उसके साथ हूं और अगर वे हमें हमारी इस अग्नि परीक्षा का सामना करने की इजाज़त दें तो मैं शरीर से भी उसके साथ रहूंगा। सत्याग्रह के लिए इन 23 वर्षों में मैंने जेल की सजा भुगती है, और इन 13 वर्षों में रीनी ने कैद और तनहाइयां भोगी हैं। यह सोचकर मुझे कष्ट होता है कि आज की दुखद परिस्थितियों में अगर यह संभव हो गया कि पृथ्वी के सारे लोगों में से मेरी रीनी पर ही कोई अनुचित ढंग से ही सही सत्याग्रह के मूलभूत सिद्धांतों से वचनबद्ध न होने वाली किसी अन्य विचारधारा से जुड़े होने का संदेह कर ले, नहीं, यह सच नहीं है, ऐसा नहीं हो सकता।

मैं बहुत स्वस्थ नहीं हूं। अपने दिल के दौरे के बाद अभी तक संभला नहीं हूं। मेरा शरीर मेरे मन का पूरा साथ नहीं दे रहा है। जो भी हो यह एक छोटी-मोटी बात है, क्योंकि अभी तक मैं मरा नहीं।

प्यार

"आका भाई"

अगर अरुणा ने आसफ अली के हार्दिक आग्रहों को नही माना तो इसका कारण यह नहीं था कि वह अपने पति से कम प्यार करती थीं। बस इसका कारण यह था कि वह अपने युवा आदर्शवाद में थीं और स्वतंत्रता के लिए क्रांतिकारी आंदोलन के लक्ष्य से अधिक जुड़ी हुई थीं।

यह आश्चर्यजनक है कि एक राष्ट्रवादी वकील और संविधान सभा के सदस्य के रूप में सार्वजनिक कार्यों में व्यस्तता के साथ-साथ आसफ अली की व्यक्तिगत भावनाओं की दुनिया कितनी समृद्ध थी। जेल के अंदर और बाहर से लिखे उनके पत्रों से बारी-बारी से उनके मजाकिया और गंभीर, नाजुक और यहां तक कि मानवीय ढंग से बहुत भावुक व्यवहार, कुशल, रूमानी और दार्शनिक रूपों का इज़हार होता है। "तुम मुझे एक ऐसे बूढ़े व्यक्ति के रूप में चित्रित कर सकते हो

जिसके चेहरे पर समय ने गहरी झुर्रियों का जाल खींच दिया हो। यह एक अनोखा दृश्य चित्र है। आर-पार और नीचे से ऊपर तक हलाइयों के निशान, देखने में आम (वर्ग) पहले जैसा जिसका कोई संकेत सूत्र नहीं दिया गया है बगैर किसी चिन्ह के सिवाय इसके कि मैं नहीं जानता कि इसका अर्थ क्या है। या शायद, क्या नहीं है।"

अपनी भतीजी नन्हीं को लिखा यह पत्र भी कुछ अजीब ही है।..... "एक जमाना हो गया जब तुमने कुर्सियांग से दूसरा पत्र लिखा था, उसके बाद तुम्हारा कोई हालचाल नहीं मिला। आखिरी पत्र में चाची कुलसुम ने ऐलान किया था कि तुम मुझे अपना तोहफा सिगरेट का एक टिन भेजने वाली हो जो मुझे तब तक मिल भी गया था। उसी में इस बात का भी इज़हार था कि तुम को किसी ने मुझे पत्र लिखते हुए देखा था लेकिन शायद तुमने यह पत्र मुझे छोड़ा नहीं, या मुझे वह मिला नहीं.....पिछले दो महीनों या इससे अधिक से एक पर एक इन्फलुएंजा कालिक, मलेरिया, डायरिया और इन सबका सम्मिलित असर कमजोरी रही है। मैं अब स्वास्थ्यलाभ कर रहा हूं यद्यपि प्रगति बहुत धीमी है। मैं कह सकता हूं इस बात की खासी गुंजाइश है कि प्रगति जारी रहेगी। लगता है इन सारी चीजों ने मुझे कुछ-कुछ पस्त कर दिया है.....तुम्हें (मेरे कहने का अर्थ है तुममें से किसी को भी) मेरे बारे में अधिक फिक्रमंद नहीं होना चाहिए।"

"इलियट की "ड्राई सालवेंजेज" के लिए धन्यवाद"। वह उनकी पहले की कविताओं का एक अंश है, किसी पत्रिका में मैंने उन चारों (फोर कर्वाटट्स) के बारे में बहुत अच्छी समालोचना पढ़ी है। हां, मैं तुमसे सहमत हूं, कि "ड्राई सालवेंजेज" एक बहुत अच्छी कविता है—और निश्चित रूप से तीसरे खंड में गीता का भी सार पकड़ती है।

लेकिन "फारवर्ड वायज़र" पढ़ते समय एक नर पशु (फिलिस्टाइन) सा अनुभव करता हूं, क्योंकि काव्यात्मक शब्द सौष्ठव और दंभपूर्ण गहनता से मुक्त होने के कारण यह "इन बिटवीन दि ऐक्ट्स" में आई आइजा की टिप्पणी "आ जा गधे" का सा प्रभाव पैदा करती है। कौन कह सकता है कि यह आगे जा रही है या पीछे ? यह एक फरिश्ते का जंगली पशु के रूप में पतन है या फरिश्ता बनने की ओर एक चिपांजी का उत्कर्ष ? और फिर काल की दृष्टि से भी कौन कह सकता है कि पीछे अतीत है या भविष्य ? एक बिखरते हुए गुलाब के लिए भविष्य निश्शेष होने से अलग कुछ नहीं है और प्रत्येक अंकुरित होता बीज काल में पीछे की ओर लौटता है क्योंकि यह मात्र अतीत को ही दुहराता है इसलिए अनन्तता अपने प्राचीनतम सपनों को फिर से पैदा करने के लिए खुद ही पीछे चली जाती है। कविता और दर्शन विचारों के बीच में एक पेंडुलम (घड़ी की सुई या कम्पास) की भांति झूलते रहते हैं। यथार्थ हमेशा है, अतीत और भविष्य वर्तमान में घुलते रहते हैं।

"अब, मुझे इसे जारी नहीं रखना चाहिए क्योंकि तुम भी नसरत की तरह कहोगी, "माफ करना, मैं तुम्हें या इस तरह के शब्दों को ठीक ठीक समझ नहीं पाती।" लेकिन मैं एक बात कह सकता हूं अब टी.एस. ईलियट से मुझे कोई गुरेज नहीं है। वास्तव में मैंने महसूस किया है कि टी.एस. ईलियट के प्रति मेरा आलोचनात्मक रुख उन बुद्धिजीवियों द्वारा उत्प्रेरित है जो ईलियट की प्रशंसा, कवि का सही मूल्यांकन करने के बजाए मात्र दिखावे के लिए करते रहे हैं और मैं न तो छल या आरोपण सहन कर पाता हूं न ही "चालू ख्यालों को"।

कवि अनंत के कुछ पक्षों पर ही तुम्हारा ध्यान केन्द्रित कर सकता है। परम सत्य इतना परे है कि

यह काल, देश, प्रकृति के नियम और समस्त गोचर तत्वों का अतिक्रमण कर जाता है और भूत तथा भविष्य के समग्र क्षेत्र को केवल एक शब्द 'ईश्वर' पर केन्द्रित करता है जो इन सभी का चरम स्रोत और लक्ष्य है। अतः इसके सरलतम और बुद्धिग्राह्य संकल्पनाओं के सिवाय मानव प्रज्ञा से इसकी परिकल्पना भी नहीं की जा सकती। मैंने इसे अपनी कृति "शेडोज़" में लाने की कोशिश की है। अफसोस कि 10 से अधिक महीनों से भी कुछ अधिक समय से मेरा दिमाग इन प्रेरणाओं को आत्मसात करने की शक्ति खो बैठा है क्योंकि मेरे गहरे और गूढ़ विचारों ने मुझे एक नितांत व्यक्तिगत अर्थ में इकहरा सा बना दिया है। यहां तक कि तीखी व्यक्तिगत भावनाओं का साथ कविता और दर्शन भी नहीं दे पाते। मेरा कहना है कि एक निःसार क्षण है और दुख और पीड़ा मनुष्य के नियंत्रण से बाहर की चीजें हैं, तो ऐसी हर एक चीज जो आत्मीय व्यक्तिगत संबंधों की सीमाओं से बाहर है, वह पूर्ण रूप से अप्रासंगिक और अर्थहीन है।

"आजकल की सभ्यता सतही नारों से अपने को भर रही है, और जिंदगी के अर्थ की ही बलि दे रही है। यह अकाट्य और कठोर (क्रूर) वास्तविकताओं से बचने के लिए कृत्रिम उत्साह पैदा करती है और प्राकृतिक कानूनों को खत्म करने की आशा की झोंक में दुख, घुटन और निराशाओं को बुलावा देती है। क्या मैं दुर्बोध होता जा रहा हूं? हां, मुझे ऐसा ही लग रहा है, अगर तुम इस पर तर्क-वितर्क करना शुरू करो तो अनन्तता के परदे के पीछे सभी गहन छवियां एक रहस्य में तिरोहित हो जाती हैं लेकिन अंतः प्रेरणा से तुम हमेशा एक झटके से वास्तविकताओं के गर्भ में पहुंच जाते हो। लेकिन मैं यह मानता आया हूं कि औरतें यद्यपि प्रायः हमेशा और स्थायी ढंग से नहीं, अपनी अंतः प्रज्ञा की दृष्टि से दुरुस्त होती हैं। तुम्हारी चाची छठी इंद्रिय में यकीन करती है। खैर, मैं सोचता हूं कि मैंने इस छठी इंद्रिय को विकसित कर लिया है, और यह एक बहुत सार्थक उपलब्धि है। यह पांचों इंद्रियों द्वारा उत्तेजित कृत्रिमता के साक्ष्य का अतिक्रमण कर जाती है और द्विधाहीन भाव से ऐलान करती है। "कितने व्यर्थ परिणामों के लिए" क्या टैगोर ने यही बातें नहीं कही हैं?

"मुझे यह ख्याल आया है कि मैं तुम्हें और सकीना को अपने परिवार की एक कमजोरी के अपने अनुभव का लाभ अवश्य उठाने दूं। मुझे कब्ज की शिकायत रही है, और खास-खास मौकों पर डायरिया से भी पीड़ित रहा हूं—अनोखे विकल्प, लेकिन गड़बड़ी के उसी स्रोत बड़ी आंत की ओर इशारा करते हैं और यह आश्चर्य करने के लिए पर्याप्त है कि दोनों प्रकार की गड़बड़ियों के लिए दवा के तौर पर मैंने ईसबगोल को जो यहां आसानी से उपलब्ध भी है, फायदेमंद पाया है। इसे सुबह के समय खाली पेट एक ग्लास गुनगुने या ठंडे पानी के साथ दो चम्मच भर कर लेना चाहिए, और रात के खाने के साथ उबली हुई भिंडियां। इस इलाज को लगातार एक हफ़्ते करने से कब्ज शर्तिया खत्म हो जाता है। अगर तुम में से किसी को इस प्रकार की गड़बड़ी हो (और मुझे आशंका है कि तुम्हें ऐसा होगा ही) तो तुम इस नुस्खे पर अवश्य अमल करो। ईसबगोल का शुद्ध मशीनी असर होता है। किसी भी अवस्था में इससे किसी प्रकार के नुकसान होने का कोई खतरा नहीं है। मैंने पाया है कि आदत एकदम सामान्य हो जाने में इससे आश्चर्यजनक रूप से मदद मिलती है। यहां अधिकतर लोग इसे यूसबगोल या इसफगोल कहते हैं। सुनने में हास्यास्पद लगता है, है न.....।

जब तुम रात के खाने पर बैठते हो तो क्या मेरे टैप टैप का अभाव नहीं खलता, हां अब समझे।

तुम्हें यह इतना नसीब हो कि मेरे आने तक भी खत्म न हो। तो उठाओ जाम....।"

ऊपर के पत्र में गीता का उल्लेख महत्वपूर्ण है। आसफ अली उदार मस्तिष्क के व्यक्ति थे जिनकी रुचि पश्चिमी विचारों से लेकर पूर्वी धर्मों तक फैली थी। गीता और महाभारत में उनकी गहरी रुचि थी और दोनों के अनुवाद के काम में लगने की वजह से उनके कुछ दोस्त उन्हें मजाक में पंडित आसफ अली कहने लगे। जेल में भी रह कर वह उतने असम्पृक्त और दार्शनिक बने रह सकते थे जितने बाहर रह कर उनकी मां की मृत्यु पर अरूणा के भाई को 27 जनवरी 1943 को लिखे गये पत्र में इसका प्रतिबिम्ब साफ झलकता है।

दुख जीवन का मुख्य सार है और समझदारी की गहरी जड़ों का भरण-पोषण इसी से होता है। महती तृष्णा की अस्थिर लौ और उद्दाम आनंद, सुख और भोग अतिरेकपूर्ण ढंग से मोहक सिद्ध होता है। परंतु अवसाद का गहन उद्दीपक ही ऐसा है जो अन्यथा सोई हुई आत्मा को परम सत्य की ज्योतिर्मय भास्वरता के प्रति उदबुद्ध करता है।

"मैं कभी असहाय दुख की निर्मम अप्रसद्यतों के इतने करीब नहीं रहा जितना तब जब मैं देवदूती सी सेवारत रीनी के साथ सांस रोके मां की मृत्यु के यंत्रणा को निहार रहा था। मैंने सर्वशक्तिमान ईश्वर के न्याय को चुनौती दी और दैव विधान की निष्ठुर निःसंगता के प्रति विरोध प्रगट किया।मैं यह देख कर सहन नहीं कर पा रहा था कि निष्पाप, निष्कलंक, साधुता और भलेपन की जैसी मिसाल मेरी मां का जीवन था — उनका हृदय प्यार और नम्रता से जितना लबालब भरा हुआ था, उनके हृदय ने जितनी पारदर्शी आस्था संचित की थी उसको इतनी दृष्टता से इतना तड़पा कर असह्य पीड़ा यंत्रणा की सूली पर चढ़ाया जा रहा था। लेकिन वाद में मुझे अपने बंद हृदय के एक कोने में खिड़की खुली हुई दिखाई दी जिसकी मार्फत मैं निश्चल ईश्वर पर एक दृष्टिपात कर सका। जिसकी भली, करुण शोकार्त आंखें बहते हुए आंसुओं की धारा से नम थीं।" उन्होंने कहा, आह! मिथ्या से सत्य की अपने ही द्वारा नियत इस यात्रा में पीड़ा और वेदना मैं ही हूं, जब नश्वर अनन्तता के लोक की ओर अग्रसर होता है तो सबसे अधिक यातना मुझे ही तो मिलती है, जो दुख और संताप झेलते हैं उन्हें जानना चाहिए कि वेदना का रंच मात्र भी व्यर्थ नहीं जाता। यह अविनश्वर परमात्मा के हृदय में संचित चिरंतता की ज्योति को जलाए रखती है। सिर्फ वही क्षणिक अस्तित्व के गौरवशून्य गौरव को शुद्ध करने में सक्षम है।

अंत के वर्ष

स्वतंत्रता आंदोलन के समय कई बार जेल जाने के दौरान आसफ अली का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। अहमदनगर जेल से गुरुदासपुर, उनके शब्दों में "एक निर्वासन से दूसरे" को भेजे जाने के दौरान, उनके साथ इतना अशोभन व्यवहार किया गया कि उन्होंने तत्कालीन गृह सदस्य को लिखा:

"पुलिस की नजरबंदी में और जेल की कोठरी में बंद होने पर एक कुर्सी और एक बिस्तर (शायद यहां के किसी निचले स्तर के कर्मचारी की कुर्सी है यह) ही फर्नीचर के नाम पर हैं। अन्यथा यहां पर और कुछ नहीं है। यहां तक ट्वायलेट पेपर तक नहीं... यह भी 38 घंटे की रेल यात्रा के बाद, जिसके दौरान बहुत ही कम सोने को मिला है। कुछ तो अपनी स्नायुविक दशा के कारण मुश्किल से 6 से 7 घंटे की नींद दो रातों के दौरान मैंने ली है और कुछ दूसरे दर्जे की यात्रा 6 पुलिस वालों की पहरेदारी के कारण। यह उनकी गलती नहीं है कि मैं सो नहीं सका।

सबसे पहले तो मैं बंबई सरकार को ही दोषी मानता हूं जिसने इस बात की पूरी जानकारी के बावजूद कि मेरी हालत अर्द्धरुग्ण की है और मैं दवा की खुराकों पर जी रहा हूं। यह जानते हुए भी उसने उपयुक्त इंतजाम नहीं किए। मेरी ऐसी हालत महीनों से—वास्तव में दो वर्षों से है। प्रभारी अंधीक्षक, मेजर सेंडार्क जानते थे, और यह भी जानते थे कि अपने स्वास्थ्य की गिरती हुई हालत की वजह से 15 दिन में मेरा 31 पौंड वजन कम हुआ है।

एक तन्हा कैदी के रूप में बगैर किसी डाक्टरी सहायता और खाने के उपयुक्त इंतजाम के मुझे इस हालत में बंद करना जान-बूझकर निर्दयता करना है।"

"पु.श्चः सुबह की चाय साढ़े ग्यारह बजे मिली है।"

14 मई, 1945 को वह पेट की भयंकर पीड़ा से बेहोश हो गए। 18 मई के डाक्टरी पर्चे में लिखा गया। "विशेष रूप से दाहिने हिस्से और नाभि के इर्द-गिर्द पेट में दिन भर दर्द रहा और रात में यह भयंकर हो गया। फलस्वरूप रोगी पूरी रात ठीक से सो नहीं सका...उसका वजन 41 पौंड कम हो गया है।" आसफ अली को स्वास्थ्य के आधार पर बिना शर्त रिहा कर दिया गया।

ठीक इसके कुछ दिन बाद ही दिल्ली के लाल किले में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सुभाष चंद्र बोस द्वारा गठित आजाद हिंद फौज के प्रमुख नेताओं के ऐतिहासिक मुकदमें के दौरान उसके बचाव पक्ष के वकीलों की जो टीम बनी उसमें नेहरू और भूलाभाई देसाई के साथ वह भी थे।

युद्ध से जब ब्रिटेन आर्थिक रूप से जर्जर हो गया और उस पर भारत छोड़ने के लिए काफी

दबाव पड़ने लगा तो (इस खतरे की घंटी बजाने की एक घटना फरवरी 1946 में तब घटी जब भारतीय नौसेना के कुछ अफसरों और नाविकों ने बंबई में विद्रोह कर दिया) अंग्रेजों को अंततः सत्ता सौंपने का निर्णय लेना पड़ा। जवाहरलाल नेहरू को अस्थाई सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया गया। आरंभ में मुस्लिम लीग द्वारा इसमें सम्मिलित होने की स्वीकृति से पहले, इसमें केवल कांग्रेसियों को ही लिया गया। अंतरिम काल के सरकार के सदस्यों के नामों की घोषणा 24 अगस्त 1946 को की गई, जिसमें आसफ अली को भी शामिल किया गया था। जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल और राजेंद्र प्रसाद के बाद उनका नाम चौथे नंबर पर था।

आसफ अली को जो विभाग सौंपा गया वह था रेल विभाग। इस जगह आने पर जो सबसे पहले काम उन्होंने किया वह था रेलवे प्लेटफार्मों पर हिंदू और मुसलमानों के पीने के पानी की जो अलग-अलग व्यवस्था थी उसे खत्म करना। आसफ अली संविधान सभा के एक सक्रिय सदस्य थे जिसने आजाद हिंदुस्तान का संविधान बनाने की शुरूआत की थी।

इसके बाद उन्हें वाशिंगटन में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में भेजा गया। इसके बारे में एक कहानी प्रचलित है। आसफ अली सख्त कारावास के लिए जिंदगी की अच्छी चीजों का त्याग करने में समर्थ थे लेकिन चीजों से संन्यास लेने या फकीरी के हिमायती नहीं थे। आसफ अली ने यह बात कभी नहीं छुपाई कि उन्हें अच्छे खाने, अच्छी शराब, संगीत और मेल-मिलाप का शौक था। इससे कुछ लोगों को उनके चरित्र और व्यक्तिगत जीवन के बारे में छींटाकशी करने का मौका मिला। इनमें से एक थे हरिजन नेता डा. बी.आर. अम्बेडकर, जिन्होंने संविधान का मसौदा तैयार करने में एक प्रमुख भूमिका अदा की थी। श्री अम्बेडकर भारत के प्रतिनिधि के रूप में आसफ अली को अमेरिका में नियुक्त किये जाने के आलोचक थे। उस पद पर गिरिजा शंकर बाजपेयी थे, जो उस "इंडियन सिविल सर्विस" के प्रतिनिधि थे जिसे शक्ति का इस्पाती ढांचा कहा जाता था और जिस पर ब्रिटिश शासन टिका हुआ था। वाशिंगटन की जगह के लिए आसफ अली का चुनाव मौलाना आजाद के सुझाव पर किया गया था जो यह महसूस करते थे कि जब भारतीय भू-भाग का बंटवारा मौलाना आजाद के न चाहने के बावजूद विचाराधीन था, तो ऐसी दशा में एक राष्ट्रवादी मुसलमान का भारतीय प्रतिनिधि बन कर जाना अच्छा रहेगा। यह कदम तो नेक इरादे से ही उठाया गया था पर इसका नतीजा कुछ गड़बड़ सा रहा। बंटवारे से पहले और बाद में जो लूट-मार हुई उसने अनेक हिंदुओं के मन में मुसलमान विरोधी उन्माद पैदा कर दिया। उनमें से कुछ ने सोचा कि आसफ अली अमेरिका में एक देशभक्त प्रतिनिधि के रूप में कार्य नहीं कर रहे हैं। आज जब हम उन बातों पर लौट कर विचार करते हैं जिनकी वजह से यह धारणा बनी तो हंसी आती है।

जब आसफ अली फरवरी, 1947 में वाशिंगटन अकेले पहुंचे (अरुणा इस बात पर दृढ़ प्रतिज्ञ थीं कि वह तब तक भारत से बाहर नहीं जायेंगी जब तक भारत आजाद नहीं हो जाता) उन्हें अपरिचित वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने में कठिनाई का सामना करना पड़ा। मिर्जा उसमान अली बेग और उनकी पत्नी जामिल जो मिस्त्री खानदान से थीं उनकी मदद को आए। उसमान अली मिर्जा रशीद अली बेग के भाई थे। मिर्जा रशीद अली बेग सैंडहर्स्ट्स के छात्र रह चुके थे और उन्होंने 1925 में भारतीय अफसरी इस बात पर छोड़ दी थी कि अंग्रेज और भारतीय अफसरों के बीच भेदभाव बढ़ता जाता है। उन्होंने समाज सेवा का जीवन अपनाते हुए 1934 से

1940 तक मोहम्मद अली जिन्ना के सचिव के रूप में कार्य किया था। 1940 में वह पाकिस्तान की मांग के सवाल पर मतभेद के कारण मुस्लिम लीग से अलग हो गए और आजादी के बाद भारतीय विदेश विभाग में राजनयिक के पद पर कार्य किया।

उसमान अली प्रारंभ में वाशिंगटन में इंडियन एजेंट जनरल के दफ्तर में थे, लेकिन उन्हें गिरजा शंकर वाजपेयी के साथ काम करने में दिक्कत महसूस हुई। जब पाकिस्तान बनने जा रहा था तो भारत और पाकिस्तान दोनों के कर्मचारियों को इस बात की छूट दी गई कि यदि वे चाहें तो दूसरे की सेवा में जा सकते हैं और उन्होंने इसका लाभ उठाते हुए वाशिंगटन में नये देश का दूतावास स्थापित करने में मदद की। अरुणा, कृष्णा मेनन और इंडिया लीग क्षेत्र के उनके दोस्तों (जिसमें भारतीय स्वतंत्रता के हिमायती ब्रितानी दोस्त भी थे) के साथ लंदन में 10 दिन बिता कर अपने पति के पास अगस्त 1947 में आई। वाशिंगटन में आसफ अली और बेग भाई एक-दूसरे से दोस्तों की भांति मिलते रहते थे यद्यपि भारत और पाकिस्तान के संबंध बंटवारे के बाद खराब हो गए थे। अरुणा 5 माह बाद जनवरी 1948 के अंत में भारत लौट आई।

आसफ अली, जो संयुक्त राष्ट्र में भारतीय प्रतिनिधि मंडल के एक सदस्य थे और शेख अब्दुल्ला के साथ मिलकर काम करते थे, बेग भाइयों से व्यक्तिगत मित्रों की भांति मिलते-जुलते रहे। यद्यपि यह मुलाकातें केवल सामाजिक स्तर पर थीं और उनका कोई भी राजनीतिक अर्थ नहीं था लेकिन वातावरण संदेह और द्वेष से इतना विषाक्त हो रहा था कि कुछ संप्रदायवादी हिंदुओं ने इसका भी कुटिल अर्थ निकाला। आसफ अली अप्रैल 1948 में भारत लौट आए और शीघ्र ही उड़ीसा के राज्यपाल नियुक्त किए गए।

इस राज्यपाल के पद पर उनकी नियुक्ति के संबंध में नेहरू और पटेल के बीच जिन पत्रों का आदान-प्रदान हुआ वह इस प्रकार है।

नेहरू द्वारा पटेल को लिखा गया पत्र:

नयी दिल्ली
जून 3, 1948

"...महताब ने मुझे एक तार भेजा है जिसमें वह पूरे मन से मेरे सुझावों पर सहमत है। इसमें से एक आसफ अली के उड़ीसा जाने से संबंधित है। लेकिन अन्य कागजात देखने के बाद मैं इस विषय में सुनिश्चित हो लेना चाहता हूं। मैं सोचता हूं कि हमें काटजू को पश्चिम बंगाल और आसफ को उड़ीसा भेज देना चाहिए।

राजा जी अभी आए हैं, मैं उनसे पालम पर मिला हूं। उन्होंने उल्लेख किया कि मुंशी को उड़ीसा भेजा जाना चाहिए, क्योंकि मुंशी हैदराबाद में लंबे समय तक नहीं रह सकते। मैंने यह सुझाव आप तक भेज दिया है। मेरा ख़्याल है कि चूंकि आसफ को वहां भेजना मंजूर किया जा चुका है इसलिए हमें इस पर कायम रहना चाहिए। लेकिन मैं आपके विचारों को जानने की प्रतीक्षा करूंगा। मैंने अभी तक आसफ से इस बारे में कुछ कहा नहीं है।"

पटेल द्वारा नेहरू को लिखा गया पत्र:

देहरादून
जून 4, 1948

"...कल का लिखा आपका पत्र मुझे आज सुबह मिला। तब से अब तक हम लोग टेलीफोन पर भी बात कर चुके हैं। उड़ीसा के बारे में हमारी जो बातचीत हुई वह निश्चित है। मैं सोचता हूं हमें इस पर कायम रहना चाहिए।"

अपना नया कार्यभार संभालने के बाद आसफ ने भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ने और उड़ीसा में राजनीतिक तोड़फोड़ को रोकने का अभियान चलाया। राज्यपाल के रूप में अपनी नियुक्ति के एक माह से भी कम समय में उन्होंने कालाहांडी के रियासती राजा के खिलाफ कार्रवाई करने के लिए पटेल से सिफारिश की। "कालाहांडी के खिलाफ हमारे पास ऐसे बहुत से सबूत हैं जिनकी प्रकृति को देखते हुए कालाहांडी के खिलाफ गंभीर कदम उठाना उचित होगा, मेरी पक्की राय है कि आपने जो धमकी उसे पहले से ही दे रखी है, उससे अधिक उसके खिलाफ कुछ किया जाना चाहिए। जिससे उसकी मदिरा बनाने की उन शरारतपूर्ण कार्रवाईयों पर रोक लगे जिसको उसने लगभग इस वर्ष के प्रारंभ से ही शुरू कर रखा है।"

नेहरू को अपने चुनाव पर यदि गहरी प्रसन्नता हो रही थी तो यह अकारण नहीं थी। उन्होंने मार्च 1949 में पटेल को लिखा: "आसफ अली स्थायी सेवाओं से निबटने में दक्ष हैं। वह विधान परिषद के सदस्यों के बीच भी लोकप्रिय हैं। लेकिन सूरज के डूबने की शुरूआत हो चुकी थी। 1950 के बसंत से बीमारियों और अकेलेपन ने उन्हें घेर लिया। अरुणा समय-समय पर आकर उनसे मिलती रहती थी और उनके पास थोड़े-थोड़े समय के लिए रुका भी करती थीं लेकिन वह एक राज्यपाल की पत्नी के गुरु गंभीर और रस्मी जीवन के लिए सोशलिस्ट पार्टी के एक प्रमुख कर्मी का अपना कार्य नहीं छोड़ सकीं।

पुरी के राजभवन की सीढ़ियों को प्रच्छालित करने वाले समुद्र का जल आसफ अली को खिन्नता से उबारने के लिए नाकाफी था। संतानविहीन और एकाकी वह अपने अंगरक्षक एस.डी.सी. कैप्टन निलामानी महंती के साथ घंटों तट पर टहलते रहते थे। आखिरकार उन्होंने पटेल को लिखा: "मैंने अपने को अधिक जर्जर महसूस करना शुरू कर दिया है, और मैंने जवाहर को मई और जून में बाहर जाकर छुट्टियां मनाने की बात पर विचार करने के लिए कहा है। आप इस निपट अकेलेपन के तनाव की कल्पना भी नहीं कर सकते। ऐसी तनहाई जो कैदी से भी बदतर है।"

तनाव और घुटन के बावजूद आसफ अली को जीवन और कला में अंतर्दृष्टि जगाने और उसको प्रदर्शित करने का समय मिल जाता था। कोणार्क पर लिखी एक पुस्तिका की प्रस्तावना में वह युग्म मूर्तियों के बारे में लिखते हैं, "एक अतीत संस्कृति की तरंगों को जिसने भी इस अनूठी कलाकृति में उकेरा हो, वह परवर्ती पीढ़ियों की मनोबाधाओं का शिकार नहीं था... इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए बहुत विद्वतापूर्ण लेख लिखे गए हैं जिसमें पहले तो जीवन के सबसे पेचीदा रहस्य को इतने खुलेपन से चित्रित करने की अक्षम्य अभद्रता को भर्त्सना की गई है और फिर इस आधार पर उसे दोषमुक्त सिद्ध किया गया है कि सभ्यता के विभिन्न चरणों में इस विषय में अलग-अलग रुख अपनाए गए हैं। मेरे जैसा एक अनाड़ी, जिसमें मीमांसापरक व्याख्या का एक सीमित भंडार ही है, किसी प्रामाणिक सूत्र के अभाव में एक संगठित सुझाव देने से अधिक कुछ नहीं कर सकता। एक

ऐसे समय में और एक ऐसे युग में जब सृष्टि के शाशवत सिद्धांत की आराधना को—रहस्यपूर्ण उल्टी-सीधी व्याख्याओं में लपेटा नहीं गया या दैवी सृजनशीलता की सर्वाधिक पवित्र विधि पर मुक्त चर्चा के विषय में कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि यह केवल गूढ़ प्रतिपाद्न का ही विषय है, यह प्रत्येक व्यक्ति के आत्मीय ज्ञान का विषय था और इसे केवल रंगीलों की जिज्ञासा और समाज पोषित अज्ञान का विषय बना देना खतरनाक तो माना ही जाता था साथ ही इस अमोघ यथार्थ का जघन्य अस्वीकार भी माना जाता था। यह भी मुमकिन है कि उड़ीसा में बौद्ध मठों के हजारों वर्ष के प्रभाव के कारण इनके सहिष्णु और रूढ़िकरण में निरर्थक ब्रह्मचर्य और मठों में चलने वाले सदाचारों की एक जोरदार प्रवृत्ति पैदा की है।

1952 में स्विटजरलैंड में उनकी नियुक्ति भारतीय राजदूतावास में मंत्री के रूप में हुई। वह पद उनके लिए राजदूत के बराबर माना गया और उस रूप में उन्हें वैटिकन शहर में भी भारत का प्रतिनिधित्व करने का प्रत्यायन दिया गया, लेकिन इस कार्य मे ऐसी कोई चुनौती नहीं थी जिसका सामना वह जिंदगी भर करते रहे। नेहरू ने उन्हें बर्न, इस उम्मीद में भेजा कि इससे उन्हें उनकी "एंजीना-पेक्टोरिस" बीमारी, जिससे आसफ अपने अंतिम कारावास में ग्रस्त हो गए थे, से मुक्ति मिलने में आसानी होगी। उनका स्वपन , जैसा कि वह अरुणा से कहा करते थे, भारत लौटकर आना था और दिल्ली के एक कोने में, बेहतर हो तो जामिया नगर में, अपना एक घर बनाना था, जहां रह कर वह अपनी रही-सही जिंदगी, अपनी असली रुचि, यानी साहित्य के पठन-पाठन में बिता सकें। लेकिन ऐसा नहीं होना था।

पर्वतीय दृश्यों ने उन्हें क्षणिक शांति दी, लेकिन उनके उस अकेलेपन को खत्म करने में मदद नहीं दी जो उनका पीछा कर रहा था। 1953 में 2 अप्रैल को ठीक 11 माह बाद जब उन्होंने स्विटजरलैंड का कार्यभार संभाला था, बर्न में दिल का दौरा पड़ने से आसफ अली की मृत्यु हो गई। जिस जिंदगी के लिए वह खुशी की तलाश एक दूसरी तरह के अरण्य में कर रहे थे उसका चक्र अंततः पूरा हो गया। उस वक्त अरुणा उनके पास थीं। □□

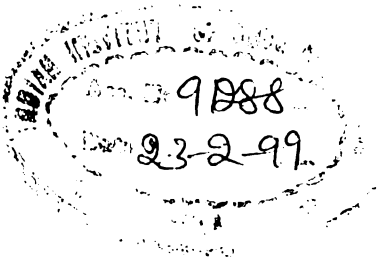

देशभक्त, अहिंसावादी, स्वतंत्रता सेनानी, संगीत एवं कला के पारखी और भावुक प्रेमी, आसफ अली बहुमुखी प्रतिभासंपन्न व्यक्ति थे। इनके जीवन के ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो न केवल उनके समकालीन स्वतंत्रता सेनानियों को अतीत की यादों में डुबो देंगे, बल्कि नयी पीढ़ी के लिए भी प्रेरणा के स्रोत साबित होंगे। आसफ अली भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष भी [illegible] रहे और समसामयिक सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ भी [illegible]ते रहे। घोर विरोध के बावजूद प्रगतिशील अरुणा का आसफ अली से विवाह संपन्न हुआ।

सुधीर पंत का जन्म सन् 1940 में इलाहाबाद में हुआ। जीवन की शुरुआत एक पेंटर के रूप में की और साठ के दशक में अनेक प्रदर्शनियां भी कीं। उसके बाद साहित्य लेखन और पत्रकारिता के क्षेत्र में आ गये। बहुत सी कविताओं और कहानियों का अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद किया। जीवनचरित पर आधारित यह इनकी पहली पुस्तक है।

Library IIAS, Shimla
H 923.254 As 12 P
00091288

रू. 12.00

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया